भ्रमित-पथिक

(एक अन्योक्ति)

लेखक
सद्गुरुशरण अवस्थी एम० ए०
विश्वम्भरनाथ सनातनधर्म कालेज, कानपुर

प्रस्तावना-लेखक
स्वर्गीय श्री पं० हरदत्त शर्मा एम० ए०, डी० लिट
भूतपूर्व प्रोफेसर, सनातनधर्म कालेज, कानपुर

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
प्रयाग

दूसरा संस्करण] १९५० [मूल्य ॥)

दूसरा संस्करण

बहुत दिनों के बाद दूसरे संस्करण के लिये भ्रमित पथिक भेजा जा रहा है। यह मेरी सब से पहली पुस्तक है। कालेज में पढ़ते समय मैंने इसका लिखना आरम्भ किया था। मुझे इस पुस्तक से मोह है।

'भ्रमित पथिक' नाम पर स्वर्गीय डाक्टर हरदत्त शर्मा ने आपत्ति की थी। संस्कृत व्याकरण के अनुसार यह शब्द अशुद्ध अवश्य है। इस ग्रन्थ की भूमिका स्वर्गीय डाक्टर साहब ने ही लिखी है और नाम के सम्बन्ध में अपनी आपत्ति भी उन्होंने लिख दी है। पर मैंने नाम नहीं बदला। मेरी यह धारणा है कि हिन्दी पाठकों के समक्ष भ्रान्त और भ्रमित में अन्तर है। किसी अव्यक्त निभोजना के सङ्केत से भ्रान्त होकर भ्रमण करने का भाव भ्रमित में है। यह सारी आकांक्षा भ्रान्त शब्द में पूरी-पूरी नहीं उतरती ? हिन्दी में ये दोनों शब्द पृथक-पृथक हैं और उनका भाव भी अलग-अलग है। स्वर्गीय श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी जी से भी मैंने इस सम्बन्ध में परामर्श किया था। वे भी मुझसे सहमत थे।

आशा है इस पुस्तक को पाठक अपनावेंगे।

लेखक

मेरा-प्रयास

—::—

जिस समय 'भ्रमित-पथिक' समाप्त हुआ मैंने समस्त ग्रन्थ को एक बार पढ़ा। लिखते समय मैंने साथ ही साथ कभी उसकी पुनरावृत्ति नहीं की थी और यह पुस्तक थोड़ी-थोड़ी करके दो-तीन वर्षों में समय-समय पर लिखी गयी थी। सम्भव है इसीलिए जब मैंने सारी पुस्तक समाप्त हो जाने के पश्चात् पढ़ी तो मुझे वह एक प्रकार से नयी सी प्रतीत हुई। कई स्थल तो ऐसे प्रतीत हुए कि मानो मैंने कभी उन्हें पढ़ा ही नहीं। कदाचित् पाठकों को इस पर सहसा विश्वास न हो। मुझे स्वयं भी अपनी वस्मरणशील बुद्धि पर हँसी आती है। कुछ स्थल तो मुझे ऐसे मिले जिनका संदर्भ बार-बार स्मरण करने से सजग हो गया, परन्तु कुछ भागों का तो बिलकुल ध्यान ही नहीं आया। वे ऐसे नये प्रतीत होते थे कि मानों उनका लेखक मैं हूँ ही नहीं। यह इसलिए नहीं कि वे स्थल बहुत सुन्दर अथवा कला की दृष्टि से अत्युत्तम हैं, वरन् इसलिए कि

मुझे उनमें स्वकीयता का सर्वथा अभाव सा प्रतीत होता था।

सम्भव है कि यह मनोवृत्ति इस लिए हुई हो कि सम्पूर्ण पुस्तक एक बार नहीं लिखी गयी। सन्तों के प्रेम के अन्त तक का भाग पहिली बार लिखा गया जिसके लिखने में लगभग एक महीना लगा होगा। फिर आधी लिखी हुई पुस्तक वर्षों पड़ी रही। पुस्तक के प्रकाशन का परामर्श मेरे मित्रों ने दिया। पुस्तक का कुछ भाग मैंने अपने कृपालु मित्रों को सुनाया। उन्होंने इसको प्रकाशित करने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। पं० माखन लाल चतुर्वेदी 'कर्म्मवीर'-सम्पादक मेरे ऊपर विशेष कृपा रखते हैं। उन्होंने भी पुस्तक का कुछ भाग सुना और उसे अच्छा कहा। उनके विचारों का और उनकी काव्य-मर्मज्ञता का मैं आदर करता हूँ। उनके परामर्श की उपेक्षा मैं न कर सका। साथ ही साथ 'सन्तों का प्रेम' नामक इसी पुस्तक के एक भाग को मैंने अपने आदरणीय मित्र पं० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० तत्कालीन माधुरी' सम्पादक के अनुरोध से उनकी पत्रिका में प्रकाशित होने के लिए प्रेषित कर दिया। कानपुर में उनसे भेंट होने के पश्चात् मुझे उनसे यह जानकर हर्ष हुआ कि लोगों

ने उसे पसन्द किया। इस कारण भी पुस्तक को समाप्त करके छपवाने के सम्बन्ध में मुझे थोड़ी उत्कण्ठा हुई।

पन्द्रह दिनों तक परिश्रम करके दो वर्षों से पड़ी हुई पुस्तक को मैंने समाप्त कर दिया। मेरे आदरणीय श्रीबाबू हीरालाल खन्ना, प्रिन्सिपल, विश्वम्भरनाथ सनातन धर्म कालेज, कानपुर, प्रयाग जा रहे थे। उन्होंने मुझे इस पुस्तक को 'अभ्युदय' प्रेस में प्रकाशित कराने का परामर्श दिया और पुस्तक अपने साथ लेते गये। पं० कृष्णकान्त जी मालवीय ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने का जो कष्ट उठाया है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

यह तो 'भ्रमित-पथिक' की रचना का इतिहास हुआ। सम्भव है कि यदि मैं यहाँ पर थोड़ी चर्चा इस बात की कर दूँ कि इस पुस्तक का आरम्भ कैसे हुआ तो पाठकों का एक विशेष प्रकार का मनोरञ्जन हो जाय। एक बार मैं एक अपने अत्यन्त निकट मित्र के यहाँ बैठा हुआ कुछ साहित्यिक चर्चा कर रहा था। मैं उस समय बी० ए० में पढ़ता था। कुछ और नववयस्क साहित्य-प्रेमी विद्यार्थी बैठे हुए थे। प्रसङ्गवश यह चर्चा उठी कि गद्य-काव्य कौन अच्छा लिखता है। कई साहित्य-सेवियों की मीमांसा

आरम्भ हुई। कई एक की समालोचना की जाने लगी। अन्त में यह निश्चय हुआ कि हम सब लोग कुछ न कुछ सुन्दर गद्य लिखकर दूसरे दिन दिखावें। निदान हम लोगों ने लगभग दो-दो पृष्ठ लिखा था। सब की कृतियाँ पढ़ीं गयीं। मेरा भी गद्य पढ़ा गया। 'प्रभात हुआ' से लेकर इस पुस्तक के दो पृष्ठों के अन्त तक का सब भाग उसी दिन लिखा गया था। वह गद्य-काव्य तो क्या था परन्तु उसकी अन्योक्ति-निबंधना को मेरे मित्रों ने पसन्द किया। उस दिन का अभिनय तो यों ही समाप्त हुआ परन्तु मुझे कुछ आनन्द-सा आ गया। मैं प्रति दिन उसी गद्य को और आगे बढ़ाने लगा। यहाँ तक कि वह बढ़ता-बढ़ता वर्तमान 'भ्रमित-पथिक' पुस्तक के आकार का हो गया।

'भ्रमित-पथिक' एक अन्योक्ति है, अतएव इसके वस्तु-विन्यास को ठीक-ठीक अन्त तक निभाना बड़ा कठिन है। नहीं मालूम इसमें मुझे सफलता मिली है या नहीं? मैंने उसके लिये कुछ प्रयास भी नहीं किया अतएव मुझे अधिक चिन्ता नहीं। विद्यार्थी निबन्ध लिखते समय हमेशा विचार-विनिमय कर लिया करते हैं और अध्यापक बालकों को हमेशा प्रबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत करने को बाध्य करते हैं। कभी-कभी अध्यापक स्वयं उसे तैयार करके बालकों

को लिखा दिया करता है। मेरा भी यह विश्वास था कि रूपरेखा के बिना सुन्दर और शृङ्खलित निबन्ध लिखा ही नहीं जा सकता। परन्तु इस ग्रन्थ ने मेरे इस सिद्धान्त को शिथिल कर दिया। 'भ्रमित-पथिक' को लिखते समय मैंने कभी नहीं सोचा कि आगे क्या लिखूँगा। एक-दो दिन पहले सोचने की तो बात ही और है लिखते समय तक यह नहीं सोचा कि दो मिनट के आगे मुझे क्या लिखना है। लेखनी स्वतः विचारों की सृष्टि करती गयी और मैं लिखता गया। मुझे भली भाँति स्मरण है कि कभी भी मुझे लेखनी इसलिये नहीं रोकनी पड़ी कि थोड़ा-सा सोच लूँ कि क्या लिखना है। न कभी शब्दों का, न भाव का, न घटना का और न कथाक्रम का विचार करने की आवश्यकता हुई। यदि 'भ्रमित-पथिक' में कोई, कथाक्रम और गाथा-विकास का तारतम्य आ गया है तो उसके लिये कभी भी मैंने सजग प्रयत्न नहीं किया। इस प्रयोग से मुझे शिक्षण-कला सम्बन्धी एक नया लाभ हुआ। ज्ञानवान बालकों की मौलिकता और स्वकीयता सुरक्षित रखने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उन्हें कभी किसी प्रकार का ढाँचा देकर वाध्य न किया जाय कि वे अपना प्रबन्ध उसी के अनुकूल लिखें।

इस ग्रन्थ में बहुत से अवतरण हैं। मैंने उन्हें अपनी स्मरण शक्ति के बल पर दिया है, अतएव उनमें अशुद्धियाँ हो सकती हैं। जिन अवतरणों के विषय में मुझे सन्देह रहा है उन्हें ढूँढ़ कर ठीक कर लिया है। परन्तु शेष अवतरण केवल स्मरण-शक्ति के ही बल पर दिये गये हैं। इस ग्रन्थ में जो कुछ भी चिन्तना का काम है वह भी अधिकांश में मेरा नहीं है। समय-समय पर विभिन्न विषयों पर अपने विद्वान् और सहृदय मित्रों के वाद-विवाद का जो प्रभाव मन पर पड़ता रहा है वही इस ग्रन्थ में अधिकतर है। कुछ ग्रन्थों के पढ़ने का भी परिणाम है।

संस्कृत और हिन्दी साहित्यिक ग्रन्थों के अनुशीलन से बड़े-बड़े कवियों के सुन्दर-सुन्दर प्रयोग भी मन में जम गये हैं। उनकी अनूठी उक्तियाँ, उनके रूपक और सादृश्य, उनके कलात्मक वर्णन इत्यादि मेरे स्मरण-पट पर गुप्त रूप से अङ्कित होते रहे हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ इस ग्रन्थ में अधिकतर पुराने कवियों के प्रमाण और उनकी उक्तियाँ दृष्टिगत होंगी। इन बातों को निकाल डालने पर भी यदि ग्रन्थ में कुछ रह जाता है तो मुझे उसके लिये हर्ष होगा। मुझे केवल इतने से ही सन्तोष होगा, यदि

एक भी व्यक्ति यह कह दे कि इस ग्रन्थ की बहुत सी घटनाओं का वह स्वयं प्रयोग है, अथवा रहा है, अथवा साक्ष्य रूप से उसका अनुमोदन करता है।

पूर्व की भाषा कुछ क्लिष्ट हो गई है, परन्तु यह नहीं कि समझ में न आवे। तो भी भाषा सम्बन्धी इस दुरूहता का मुझे खेद है। सम्भव है कि मेरी कलात्मक व्यञ्जना करने की व्यर्थ की आकांक्षा ने मुझसे यह भूल करायी हो। मुझे इस प्रकार लिखने का अभ्यास नहीं। हिन्दी में प्रायः लेखों के रूप में मैंने बहुत कुछ लिखा होगा, परन्तु आज तक कविता की एक पंक्ति भी नहीं लिखी। कभी भी कोई गल्प या उपन्यास नहीं लिखा। अपने ढङ्ग का यह पहिला ग्रन्थ है। इस दिशा में यह मेरा पहिला सम्भवतः अन्तिम प्रयास है। चार-पाँच वर्ष पड़ा रहने के पश्चात मैंने इस ग्रंथ को छपने भेजा था।

प्रेम-मन्दिर,
कानपुर
११-७-१९२७

सद्गुरुशरण अवस्थी

प्रस्तावना

॥ श्रीशः पातु ॥

'दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्'

इस जीवनयात्रा में प्रत्येक प्राणी का मुख्य ध्येय सुख-प्राप्ति ही है। दुःख का परित्याग प्राणिमात्र ही को अभीष्ट है। जैसे-जैसे जीव विकास को प्राप्त होता चला जाता है वैसे-वैसे ही दुःख-निवारण के उपायों के ढूंढ निकालने में विशेष-विशेष उन्नति प्राप्त करता हुआ दीखता है। किन्तु, रोग की ठीक-ठीक विवेचना होने से पहिले जिस प्रकार उसका प्रतिकार करना अँधेरे में टक्करें खाना है, उसी प्रकार दुःख की ठीक-ठीक परिभाषा होने से पहले उसका निवारण करना भी असंभव ही है। दर्शन-शास्त्र में दुःख की परिभाषा इस प्रकार है—'प्रतिकूलतयाऽऽत्मवेदनीयं दुःखम्'। जो अपने आप को अच्छा न लगे, अर्थात् जो अपने बिलकुल उलटा पड़ता हो उसे दुःख कहते हैं। सांख्यकारिकाकार श्रीयुत ईश्वरकृष्ण इस दुःख के तीन विभाग करते हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। दर्शनशास्त्र की भित्ति

की नीव इन तीन दुःखों के निवारणार्थ उपायविशेष की जिज्ञासा पर स्थित है। यद्यपि इन सब के उपाय दृष्टि-गोचर तथा आधिभौतिक शास्त्र की उन्नति के कारण कुछ सुगम अवश्य हो गये हैं, तथापि इन उपायों का सामर्थ्य दुःख का एकान्ताभाव तथा अत्यन्ताभाव करने में नहीं है। इसीलिये वैज्ञानिक उपायों की अपेक्षा दार्शनिक उपायों का अवलंबन करना हमारे तथा अन्यदेशीय सिद्ध और अनुभवी पुरुषों का लक्ष्य रहा है। आसक्ति, राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय, क्रोध इत्यादि दुर्गुणों के वशीभूत हो कर ही प्राणी दुःख उठाता है—ऐसा सबका सिद्धान्त है। शास्त्राध्ययन तथा संसार का पर्याप्त अनुभव भी प्राणी के नेत्र खोलने में सर्वदा सफल नहीं हो उठता। सब देख-भाल कर, पढ़-लिख कर भी मनुष्य पापाचरण में प्रवृत्त हो जाया करता है। इन सब दुःखों का मूल कारण आध्या-त्मिक (अर्थात् मानसिक) उच्छृंखलता में संन्निविष्ट है। मन ही मनुष्य के बन्ध (दुःखबंध) तथा मोक्ष (दुःख मोक्ष) का कारण है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः'। मनोनिग्रह सचमुच ही 'वायोरिव सुदुष्करं' है। इस चञ्चल मन की नाव को वासनारूपी वायु के झोंके कहाँ एक जगह टिकने देते हैं? आज इसको यह चाहिये

तो कल कुछ और। ऐसी मानसिक परिस्थिति में होते हुए मनुष्य की क्या अनिर्वचनीय अथवा अवर्णनीय दशा हो जाती है, वही इस पुस्तक का विषय है।

'भ्रमित-पथिक' एक अन्योक्तिरूप गद्यमय काव्य है। इसकी भाषा कैसी है तथा साहित्य में ऐसे ग्रन्थ का क्या स्थान है, इसका आगे विवेचन किया जायगा। भ्रमित अर्थात् भ्रमणशील पथिक एक साधारण विवेक-शील किन्तु वेत्र के समान चाहे जिधर को मुड़ जाने वाले, संसारी पुरुष का इतिहास है। इसकी हम बनयन (Bunyan) के (Pilgrim's Progress) पुस्तक (Neighbour Pliable) के साथ तुलना कर सकते हैं। यात्रा के प्रारम्भ होते ही भिन्न-भिन्न दिशाओं से यात्री लोग आकर हमारे पथिक को मिलते हैं। इनमें 'पश्चिम मार्ग से आते हुए.........रंगरूप में कपूर की भाँति 'उज्ज्वल' तथा 'काँटे का मुकुट रखने वाले' (अर्थात् Jesus Christ) के चेले तो हमारे यूरोपनिवासी हैं। कुछ भारतवासी हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न संप्रदायावलम्बी योगी, वैरागी, जटाधारी, चिमटाधारी सम्मिलित हैं। इन सब का चित्र देखते ही एक कवि की सूक्ति का ध्यान आ जाता है—

'मूंड़ मुंड़ाये तीन गुन, मिटै सीस की खाज ।
खाने को मोदक मिलें, लोग कहैं महाराज ॥'

रसना ही परम धर्म तथा ध्येय है, सांसारिक बनाव-सजाव ही चरम लक्ष्य है—इस आदर्श को सामने रखने वाले, संसारवासनाओं में लिप्त होने के लिये संसार-परित्याग करने वाले, शैव, बौद्ध, जैन तथा अन्य संप्रदायों के प्रतिनिधि, ज्ञान की दीप्तिशिखा को 'शीघ्र बोध' की शिखाद्वारा व्यंजित करने वाले साधुओं से हिन्दूसमाज को जैसी हानि पहुँच रही है, उसका प्रत्यक्ष चित्र आपके सामने है। इस माया-पंक में हमारा पथिक ऐसा फँसता है कि अवधूत के बारंबार के उपदेश को तथा स्वयं अवधूत को, ठोकरों से धराशायी कर डालता है। यह अवधूत यद्यपि कहलाने को तो हमारे पथिक का शिष्य है तथा बाह्य आचरण भी वैसा ही करता है, तथापि (Pilgrim's Progress) के (Evangelist) का प्रतिबिंब है। अन्त में यह हमारे पथिक का गुरु बन कर ही हटा है। जब हमारे पथिक पर उपदेशों का कुछ असर नहीं होता, क्योंकि 'लातों की बुढ़िया कहीं बातों से मानती है ?' तब दैवी आपत्ति ही डाकुओं के स्वरूप में आकर आँखे खोलती हैं। 'पञ्चाङ्गुलियों के ऐक्य' ने

पथिक की सब हवा भुला दी, 'वैजयन्ती-माला' पहिनने के कारण तथा 'हस्तदण्ड' के अकाण्डपात से नेत्र 'अधिक तत्परता से लज्जारूपी रत्न' की खोज में धूलि में गड़ जाते हैं। उस विकल अवस्था में हमारे पथिक को चेत होता है, तथा उसके मुख से निम्नलिखित हृद्वेधी उद्‌गार सहसा निकल पड़ते हैं—

"ऐ मूर्ख प्राणी! कहाँ है तेरी शान-शौकत? कहाँ हैं तेरे शिष्य? तेरी विद्वत्ता कहाँ है? तेरा मान ऐश्वर्य कहाँ है?..........."इत्यादि। इन आपत्तियों से हमारा पथिक सस्ता ही छूट जाता है, केवल एक उँगली भर कट जाती है। हमारे अवधूत ही इनके इस समय तथा भविष्य में भी छुटकारे के तथा सन्मार्ग पर चलाने के लिये उद्यत हैं।

यहाँ से छूट कर पथिक पहुँचते हैं पंचराहे पर। इसके बाँई ओर के मार्ग से एक यात्री आता है। हमारा पथिक अपने समान उसकी भी कटी हुई उंगली देख कर कथा पूछ बैठता है। वह यात्री कहता है कि यह कटी उंगली कामवासना में फंस जाने के अपराध का दण्ड है। हमारा पथिक इस बात पर उत्तेजित होकर कहने लगता है—

'आपने अपना अपमान कैसे सहा ?......क्या गौरव की भावना आप में नहीं है ?' इत्यादि।

नवागन्तुक यात्री पथिक की इस बात पर बड़ी नम्रता से उत्तर देता है—'हे पथिक ! गरुएपन की मिथ्यालालसा का परित्याग कीजिये। हलकी रुई पर खड्ग का आघात भी कुछ नहीं कर सकता।'

सहसा उसी बाँई ओर से आने वाला आर्त्तनाद पथिक को आकृष्ट कर लेता है। और उधर जाते ही उसको साक्षात् देहधारी अनङ्ग भगवान् का दर्शन होता है। इस शाश्वतयौवनधारी पुष्पधन्वा के वाणों से विद्ध सहस्रों पुरुष दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक स्थान तथा देश के प्रतिनिधि वहाँ पर उपस्थित हैं, 'ढीले पाजामे वाले' अफ़ग़ान, 'चपटी नाकवाले' चीनी, 'पश्चिमी जामा पहने' जापानी, 'योरप के निवासी' तथा अनङ्ग भगवान् के चरण ग्रहण किये हुए फ्रांसवासी और 'पातालपुरी (अमेरिका)' के लोग सभी अपने वक्षःस्थल पर वाणों की वर्षा को सहर्ष स्वीकार करते हुए करुण-क्रन्दन की हंसी हँस रहे हैं। इस जगह पर पाठकों को स्टेथैस्कोपधारी डाक्टर, चन्द्रोदय की डिबिया लिये वैद्य, यहां तक कि वकील, पण्डित, वक्ता, योगी, वैरागी,

व्यापारी सभी दृष्टिगोचर होते हैं। सच है, भला कौन बच सकता है कामदेव से ? कवि ने ठीक कहा है—

'विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना
दृष्ट्वा स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं सर्वेऽपि मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुंजते मानवा—
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम् ॥

हमारे पथिक भी आटा ही खाते थे, कुछ भूसा तो फाँकते न थे जो कामोद्यान में से बिना केलि किये निकल जायँ। आखिर फंस ही तो गये। जाले में फँसी हुई मक्खी के समान जितने उद्योग पथिक इस पाश से उन्मुक्त होने के करता है, उतना ही अधिकाधिक फँसता चला जाता है। चाहे गुसाँई जी स्त्री जाति की निन्दा करें, चाहे कबीरदास और धरनीदास सिर फोड़ मरें, चाहे दरिया साहब और पलटूसाहब लोट-पलट करें, किन्तु यह परोपदेशमात्र हैं। नीम का कड़वापन कुछ कहने से नहीं प्रतीत होता, यह तो आस्वादन से सम्बन्ध रखता है। ऐसे समय पर शास्त्र भी परस्पर-विरोधी जँचने लगते हैं, धर्म की सूक्ष्मगति से घबड़ा कर आत्महत्या करना भी 'असूर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि उपनिषद्वाक्य से पाप ठहरा दिया जाता है। हाय रे

मनुष्य की आत्मवंचना! या यों कहिये कि किंकर्तव्य-विमूढ़ता के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसे विचारविप्लव में पड़ जाता है कि कोई मार्ग नहीं दीख पड़ता। अन्त में दुर्बलात्मा लोग अपनी नौका को 'यद्भविष्य' की बहिया में डाल देते हैं, चाहे नौका किनारे लगे या भँवर में जाकर डूब जाय। फिसलते-फिसलते 'नेत्र पक्के चोर हो जाते हैं' और ध्यान में आने लगता है कि—

वेदाभ्यासजड़ः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।

लगे हाथ, महाशय 'पथिक' अहिंसा, सत्य, अस्तेय इत्यादि नीति के मूलतत्त्वों पर शास्त्रों की परस्परविरोधिनी सम्मतियों के उद्धरण तथा स्मरण द्वारा शास्त्र की पोल तथा लचरपना सिद्ध कर अपना मतलब सिद्ध करते हैं। अधःपतन हो जाता है, और ऐसा होता है कि स्त्री जाति की प्रेम-शून्यता तथा एकव्रतत्व का अभाव प्रत्यक्ष देख कर भी एक के अनन्तर दूसरे प्रलोभन में फँसते हुए पथिक महाशय आत्मविस्मृत हो उठते हैं।

सद्बुद्धि तथा विवेक की कृपा फिर एक बार अचानक रूप से होती हुई प्रतीत होती है। 'सन्तों के प्रेम' इस विषय पर व्याख्यान होगा ऐसा सूचना पाकर पत्नी सहित

(भगवान् जानें, यह पत्नी की उपाधिधारिणी देवी, बिना ही किसी विवाहबन्धन के किस प्रकार प्राप्त हुई) पथिक 'सुन्दर उपवन' से निकल कर सभामण्डप में पहुँचता है। स्वामी प्रेमानन्द जी का व्याख्यान, जो कि पुस्तक के लगभग ४० पृष्ठों में हैं, तथा जिसमें कि ग़ालिब, भवभूति, बिहारी, कबीर, मलूकदास, देव, जायसी, तुलसीदास, प्रतापनारायण, सूरदास, अहमद इत्यादि प्रेम के रस में पगे हुए अनेक भक्तों के हृदयोद्गारों का उल्लेख है; लेखक महोदय की विद्वत्ता, बहुश्रुतत्व तथा सूक्ष्म विवेचनाशक्ति का परिचायक है। प्रेम का वास्तविक रूप क्या है, प्रेम विषय-प्रेम से कितना भिन्न है तथा बड़े-बड़े साधु-संतों ने किस प्रकार प्रेम-मद में मत्त होकर संसार के ऐहिक पदार्थों को तथा पारमार्थिक सुखों को भी लात मारदी है, इस पथ में क्या-क्या कठिनाइयां हैं—इन सबका सूक्ष्म विचार पढ़ना हो तो हम पाठकों का ध्यान पुस्तक के इस भागविशेष की ओर आकृष्ट करेंगे। इतना ही नहीं, पथिक के द्वारा किये हुए प्रश्न, वे प्रश्न हैं जो कि प्रत्येक विचारशील प्राणी के चित्त में उठते हैं। दर्शन-शास्त्र के गूढ़ तत्व, प्रेम तथा भक्ति का अन्तर प्रेम में प्रलय और विकास दोनों का अस्तित्व, व्यावहारिक

तथा पारमार्थिक दशा, मुक्ति, ज्ञानी के कर्म—यह ऐसे प्रश्न हैं, जिनका कि उत्तर किसी अनुभवी पुरुष के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। स्वामी प्रेमानन्द जी, जो कि हमारे पूर्वपरिचित अवधूत महोदय ही हैं, इस वैचित्र्य तथा कौशल से इन दर्शनग्रन्थियों को सुलझा-सुलझा कर खोलते हैं, कि पढ़ते ही बनता है। पथिक का नेत्रोद्घाटन हुआ। उसे सूझा कि "मेरा अपमान हुआ है मेरे प्रेम का किसी ने उत्तर नहीं दिया। वह ठुकराया गया।........" जिनको सैकड़ों बार इस बात का परिचय प्राप्त हो चुका है कि "मैं अपने सर्वस्व उनके चरणों में समर्पण कर उन्हें सुख देना चाहता हूँ, वे भी उपेक्षा करें तो फिर संसार में है ही कौन ?" अवधूत ने—शिष्य के पूछने पर कि मेरा कल्याण किस प्रकार होगा, उसने कहा—'यह पाप तो प्रायश्चित से दूर हो सकता है।' कहना नहीं होगा कि एक उंगली पथिक महाशय और खो बैठे।

विचारधारा फिर बदली मन में इस बार तीव्रता का समावेश हो उठता है। बार-बार अपमान सहने के कारण आत्मसम्मानरूपी मिथ्यागर्व से पथिक दीप्त हो उठता है, तथा 'from frying pan to fire, नाम की कहावत को चरितार्थ करता हुआ काम से बच कर क्रोध

के चंगुल में फँस जाता है। बस फिर क्या कहना था ? मुँह से कोई बोला नहीं कि पथिक महाशय ने आव देखा न ताव, एक ठोकर जड़ दी। अब तो जो मिलता है उसीसे थप्पड़ या घूँसे से बात होती है। तनिक सी भी बात हो, वही हमारे पथिक के मस्तिष्क को उष्ण कर देने में पर्याप्त हो जाती है। स्थान-स्थान पर तथा अवसर कु-अवसर पर पथिक का क्रोध नीतिमत्ता की सीमा को उल्लंघन करता हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार क्रोधांध अवस्था में डूबा देखकर अवधूत महोदय फिर न मालूम किधर से टपक पड़ते हैं और पथिक को ज्ञान-मार्ग के उपदेश द्वारा फिर प्रकृतिस्थ करते हैं। पथिक भी बड़े चाव से ज्ञान तथा कर्म, योग, आत्मबल, मनः-संयम इत्यादि गूढ़ रहस्यों के सम्बन्ध की पिपासा को अवधूतोपदेशामृत द्वारा शमन करता है। क्रोध का स्थान शान्ति ग्रहण करती है, और भगवद्गीता का उपदेश—

> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
>
> स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

पथिक के हृत्पटल पर अंकित होकर उसे सान्त्वना पहुँचाता है। गुरू तथा शिष्य दोनों श्रान्त होकर एक

स्वर से स्वयं प्रेमोन्माद से मत्तहोकर गा उठते हैं—

जानु मन प्रेम करन की बान।

कहा भयो जो पिउ नहीं रीझत,

राखहु उतही ध्यान।

इस रागमस्ती की अवस्था में अवधूत फिर उपस्थित हो जाते हैं। फिर ज्ञान-चर्चा का प्रारंभ होता है। प्रेम तथा मोह में बड़ा ही सूक्ष्म अन्तर है तथा उनके वाह्य सादृश्य से मनुष्य को भूल न करनी चाहिये। तदनन्तर भगवद्गीता के सम्बन्ध में जो विविध विचार उत्पन्न हुआ करते हैं, उन सब का उत्तर पाठकों को अवधूत-पथिक संवाद में पूर्णरूप से मिलेगा।

भ्रमणशील पथिक फिर चल पड़ा। मार्ग में फिर वही पंचराहा उपस्थित। अब की बार, धन की उपेक्षा तथा धन से उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए, हमारे पथिक स्वयं ही धनपङ्क में मग्न हो जाते हैं। धन के कारण होने वाली शारीरिक दुर्दशा का चित्र अत्यन्त ही हृदयङ्गम है—

"थोड़ी देर में लगभग चार मन का एक मांसपिण्ड अपने फुफ्फुस की विशालता का परिचय देता हुआ

काँख-कूँखकर मोटर से पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ। ....सारे शरीर का भार एक-एक हाथ के दो स्तम्भों पर रखा था। जाघें परस्पर संघर्षण करती थीं। कपाल-पिण्ड एक बड़े दलदार तरबूज की भाँति भारी था।................पाचनभाण्डार की आकृति वर्षा द्वारा विरूपित एक दिशा की ओर लम्बायमान गुड़ के बोरे की भाँति थी.........” इत्यादि।

पढ़कर पाठकों के हृत्पटल पर अवश्य ही किसी न किसी परिचित सेठ का चित्र अंकित हो जाता है कारण ऐसे, माँस-मटकों की हमारे देश में कमी नहीं। लक्ष्मी भी क्या अंधी है जो ऐसे कुरूप कुवृत्त तथा अप-व्ययी 'चीकट' बनयायिनधारी पुरुषाधमों का वरण करती है। अस्तु, अपने नारायण को इससे क्या? 'कोउ नृप होहि हमैं का हानी'।

किन्तु लक्ष्मी की माया क्या विचित्र है? ज्ञान होने पर भी फिर वही अधःपतन। 'जानन्नपि विमुह्यति'। एक स्वर्ण-मुद्रा देखने भर की देर थी, कि पथिक उसको हस्तगत करने के लिये लालायित हो उठता है। क्या-क्या उपाय नहीं करता? कौन-सा कौशल नहीं करता? यहाँ तक कि स्तेय को भी अपने ध्येय के अधिगमार्थ काम में

ले आता है। धनी होने की अभिलाषा को एक कालिज के विद्यार्थियों का वक्तृतासंघर्ष और भी उत्तेजित कर देता है। उस एक स्वर्ण-मुद्रा से, द्यूत की कृपा के कारण द्यूतशाला से पथिक 'लगभग ६००० रु० लेकर' नीचे उतरता है फिर तो व्यापार में मालामाल, K. C. S. I. की उपाधि, यूरोपभ्रमण इत्यादि सभी मनोरथ अच्छी तरह से पूर्ण हो जाते हैं। वही दुर्गुण जो और धनिकों में होते हैं, हमारे पथिक को भी आक्रान्त कर डालते हैं। किन्तु परमेश्वर को पथिक की उन्नति बदी थी, अतः व्यापार में घाटा तथा अन्य प्रकार की सांसारिक आपत्तियों के कारण फिर पथिक के उद्बोधन की पारी आती है। संसार से घृणा, जीवन से घृणा तथा अन्य अभिलाषाओं की पूर्ति का अभाव, यह सब हमारे पथिक के चित्त में आत्महत्या की प्रबल इच्छा उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु अवधूत महोदय की कृपा के कारण पुनः उद्धार होता है।

इस समय हमारे पथिक का Period of Apparenticeship अवसान को प्राप्त हो जाता है। अब दीक्षा का समय उपस्थित है। अवधूत के उपदेश इस समय हृदय के अन्दर भली प्रकार से स्थान प्राप्त करते हैं।

'छाया न मूर्छति मलोपहतप्रसादे, शुद्धे तु दर्पण तले सुलभावकाशा'

दर्पण का मल बिना मले कैसे दूर हो सकता है? बिना तपाये सोने में कैसे रंग आ सकता है? बिना कष्ट तथा पश्चात्ताप के क्यों कर मानव-हृदय-दर्पण शुद्ध हो सकता है? बिना Horizontal Conversion के Vertical Conversion संभव नहीं। अवधूत के निम्नलिखित वाक्य वास्तव में तिल-तिल सत्य हैं।

'आपको वास्तव में ऐसा कोई गुरु नहीं मिला, जिसके गुरुत्व में आपको विश्वास हो, अन्यथा आपका उद्धार हो गया होता। सत्य है—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्, तथा 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति'

और इस ज्ञान-प्राप्ति का साधन भी गुरु-कृपा है—गीता का निम्नलिखित वाक्य भी गुरु को ही लक्ष्य कर के कहा गया है—

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

'गुरु बिन होय न ज्ञान'। अब गुरु मिल गये तथा नेत्र खुल गये'।

Direct (साक्षात्) या लट्ठमार बात कुछ अधिक प्रभावशालिनी नहीं हुआ करती। अभिधा द्वारा प्रति

पादित अर्थ न तो उतना सुन्दर ही होता है और न उतना व्यापक ही जितना कि व्यञ्जना द्वारा प्रतिपादित अर्थ होता है। अतएव सहृदयों में जितना ध्वनि या व्यञ्जना का आदर है, उतना अभिधा का नहीं। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अपने अधिगमार्थ सहृदयता तथा प्रतिभाशालित्व की बहुत अपेक्षा रखता है। अतः ज्यों-ज्यों व्यञ्जना का उपयोग कम होता जाता है त्यों-त्यों अभिधा का प्रभुत्व बढ़ता जाता है और साधारण बुद्धिवाले सामाजिकों को सुगम होता जाता है। समासोक्ति या अन्योक्ति नामक अलंकार में अभिधा शक्ति कुछ दूर तक व्यञ्जना शक्ति से सम्मिलित हो जाती है। काव्य-प्रकाशकार मम्मटाचार्य ने समासोक्ति का लक्षण यह किया है—

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥

अर्थात् जहां पर कार्य, लिङ्ग अथवा विशेषणसाम्य द्वारा अप्रस्तुत वस्तु से प्रस्तुत वस्तु का प्रतिपादन किया जाय वहाँ समासोक्ति होती है। एक उदाहरण देकर हम प्रकृत विषय पर आते हैं—

क्षुत्क्षामेण कथं कथंचिदनिशं गात्रं कृशं विभ्रता
भ्रान्तं येन गृहे-गृहे गृहवतामुच्छिष्टपिण्डार्थिना।

अस्थन: खण्डमवाप्य देवपतितं शून्यां त्रिलोकीमिमां
मन्यानो धिगहो स एव सरमापुत्रोऽद्य सिंहायते ॥

यहां पर कुत्ते के द्वारा नीच प्रकृतिवाले किन्तु भाग्य से लक्ष्मी के कृपाभाजन हो जाने पर मनुष्य की क्या दशा हुआ करती है, इसका बहुत ही सुन्दर चित्र आपके सामने है।

संस्कृत-साहित्य में समासोक्ति या अन्योक्ति का प्रयोग प्रचुरतया दृष्टिगोचर होता है, किन्तु अधिकतर मुक्तकों (अर्थात् फुटकर श्लोकों) में ही। ऐसे संस्कृत में प्रबन्ध बहुत कम हैं जिनमें अकार से लेकर हकार तक ही अन्योक्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता हो। जो कुछ है, उनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है। अन्योक्तिप्रधान सबसे पुराना ग्रन्थ महाकवि अश्वघोष (१ ली शताब्दी ईसवी) का एक खण्डित नाटक है जो कि तालपत्र पर लिखे हुए अश्वघोष के नाटकों की खण्डित मातृकाओं (Mss.) में से एक है जो कि Professor Dr. Luders को Turfan (मध्य एशिया) से प्राप्त हुए हैं। इस के पात्र बुद्धि, धृति, कीर्ति, बुद्ध भगवान इत्यादि हैं, जो रङ्गमञ्च पर आकर अन्य पात्रों की भाँति अभिनय करते हैं। इसके अनन्तर काल का मोहपराजय नामक एक जैन नाटक

और मिलता है जिनमें कि विवेकचन्द्र, ज्ञानदर्पण, कीर्तिमञ्जरी, प्रताप, पार्श्वदेव इत्यादि पात्र पाये जाते हैं। अन्योक्ति प्रधान नाटकों का चक्रवर्ती प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक है जिसके रचयिता श्री कृष्ण मिश्र जी का जीवन काल लगभग सन् १०४२ ईसवी है। इस नाटक मे विवेक मोह, विद्या, प्रबोध, मिथ्या दृष्टि, दम्भ इत्यादि पात्र है तथा वेदान्त की विजय दिखायी गयी है। इसका अनुकरण वेङ्कटनाथविरचित संकल्पसूर्योदय, कवि कर्णपूरविरचित चैतन्यचन्द्रोदय तथा शैवसंप्रदाया-वलम्बी विद्यापरिणय और जीवानन्दन हैं। अन्तिम नाटकों का निर्माणकाल ईसवी १८ वीं शताब्दी है। सिंहावलोकन से यह पता चलता है कि ईसवी पहली शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी तक अन्योक्ति-प्रधान प्रबन्धों की एक विच्छिन्न-सी धारा संस्कृत साहित्य में मिलती है। अङ्गरेजी तथा पाश्चात्य साहित्य में भी Mystery Plays तथा अन्य Allegories प्राप्त होती हैं। उन सब में Bunyan विरचित Pilgrim's Progress नामक Allegory हमारे ग्रन्थ से बहुत दूर तक साम्य रखती है। इन अन्योक्ति-प्रधान धार्मिक ग्रन्थों की रचना के मूल में यह तत्त्व घसा हुआ है—प्रत्येक प्राणी को अपने जीवन-

संग्राम में भाग लेना पड़ता है, प्रत्येक प्राणी को सुखदुःख, तथा साफल्य और नैष्फल्य का सामना करना पड़ता है। हम कालस्रोत में प्रवाहित होते चले जा रहे हैं, हम पहाड़, मकान, प्रकाश, अन्धकार इत्यादि के पास होकर चले जा रहे हैं। कहीं पर स्रोत हलका है, कहीं पर प्रवाह वेगयुक्त है, कहीं पर प्रपात है। इस प्रकार इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील जीवन में यही प्रश्न स्थिर रहते हैं—मैं क्या हूं? जलबुद्बुद के समान प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश को मैं क्यों प्राप्त होता हूँ? संसार क्या है? हमारा रचयिता कौन है? मेरा क्या कर्तव्य है? इत्यादि। चित्त को बिना इन प्रश्नों के उत्तर मिले शान्ति नहीं। स्थिरता नहीं। दार्शनिक तथा कवि लोग समय-समय पर इन प्रश्नों के उत्तर देते हैं, जो कि कुछ काल तक जनता के चित्त को शान्ति प्रदान करने में समर्थ हुआ करते हैं। अन्योक्तिप्रधान काव्य भी ऐसे प्रश्नों के समाधान की चेष्टा किया करते हैं। Bunyan ने अपने Pilgrim's Progress की भूमिका में बहुत सुन्दर रीति से उन परिस्थितियों का वर्णन किया है, जिनमें उसने अपने ग्रन्थ को रचा, यह पंक्तियां हैं—

When at the first I took my pen in hand,
Thus for to write, I did not understand
That I at all should make a little book
In such a mode, Nay I had undertook
To make another, which when almost done,
Before I was aware I this began-

And thus it was.—I writing of the way
And race of saints in this our Gospel day,
Fell suddenly into an Allegory
About the journey and the way to glory
In more than twenty things which I set down.
This done, I twenty more had in my crown,
And these again began to multiply,
Like sparks from the coals of fire do fly,
Nay then, thought I, if that you breed so fast
I'll put you by yourselves, lest you at last
Should prove *ad Infinitum* and eat out
The book that I already am about.

Well, so I did; but yet I did not think
To show to all the world my pen and ink
In such a mode. I only thought to make.
I knew not what. Nor did I undertake

Merely to please my neighbours; no, not I.
I did it mine own self to gratify.

Neither did I but vacant seasons spend
In this my secribble; nor did I intend
But to divert myself in doing this
From worser thought, which make me do amiss.
Thus I set pen to paper with delight.
And quickly had my thought, in black and white;
For having now my method by the end,
Still as I pulled it came; and so I penned
It down : until at last it came to be
For length and breadth the bigness which you see.

Well, when I had thus put, my ends together,
I showed them others, that I might see whether
They would condemn them or them justify,
And some said, Let them live. some Let them die;
Some said, John, print it; other, said Not so ;
Some said it might do good, others said, No.

Now was I in a strait, and did not see
Which was the best thing to be done by me.
At last I thought, since you are thus divided,
I print it will; and so the case be decided,

Bunyan की उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ कर हमें अपने लेखक महोदय के 'मेरा प्रयास' शीर्षक Aplogia का स्मरण हो आता है।

यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि अवधूत का चरित्र Evangelist से मिलता-जुलता है, तथा पथिक का चित्र यद्यपि कहीं-कहीं Neighbour Pliable से कुछ साम्य रखता है, तथापि इस को यदि Mr. Christian का प्रतिबिम्ब कहें तो अत्युक्ति न होगी। बस इतनी दूर तक तो दोनों पुस्तकों में साम्य अवश्य है, परन्तु आगे नहीं। Bunyan के उद्‌गार तथा वाक्य स्वानुभव-जनित हैं, अवस्थी जी की यह कल्पना-साम्राज्य की सृष्टि है। यद्यपि भ्रमित-पथिक में काम, क्रोध, मान, मद तथा मोह इत्यादि दुर्गुणों का सामना पथिक को करना पड़ता है, तथापि Bunyan के अनुसार Simple-, Sloth, Presumption जैसे पात्र Hill of Dificulty, Land of Vain Glory, Valley of Humiliation, Valley of Shadow of Death Delectable Mountain इत्यादि जैसे स्थान, भ्रमित पथिक में नहीं है। इन सब स्थानों का आभास मात्र अवश्य है किन्तु इस प्रकार नामकरण या वर्गीकरण

नहीं है। Bunyan का Pilgrim जीवन-यात्रा के पथ पर अग्रसर होता है तथा क्रम से भिन्न-भिन्न दुःखों का तथा कष्टमय स्थानों का सामना करता हुआ अपने निर्णीत स्वर्ग पर पहुँचता है। भ्रमित-पथिक, किसी उद्देश्य वा लक्ष्य को सामने रखकर नहीं चलता है, वह केवल भ्रमण शील है। वह एक सागर में भटकने वाली नाव है, जो कि वायु के थपेड़ों से चाहे जिधर को चल देती है और समय-समय पर अवधूत की कृपा से डूबने से बचकर अन्त में अवधूत ही की कृपा से किनारे लग जाती है।

इन दोनों ग्रन्थों की अधिक तुलना करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अवस्थी जी के कथनानुसार उन्होंने अपने ग्रन्थ का Bunyan को आदर्श नहीं बनाया है।

भूमिका बहुत लम्बी हो चली है, अतः पुस्तक की भाषा के ऊपर विचार कर अपनी लेखनी स्थगित कर दूँगा। पुस्तक का नाम 'भ्रमित' के स्थान पर 'भ्रमण-शील' अथवा 'भ्रान्त' रखना उचित था। पुस्तक का आदि भाग निश्चित रूप से ऐसी क्लिष्ट भाषा है कि साधारण जनों की समझ में बिना कोश या Dictionary के

नहीं आ सकती। आगे चलकर भाषा अपना प्राकृतिक रूप धारण कर लेती है। जहां पर प्राकृतिक दृश्य अथवा अन्य किसी अवस्था का वर्णन है, वहां पर अवश्य ही अवस्थी जी का गद्य दण्डी के सुन्दर गद्य के समान हो उठता है—जैसे देखिये मध्याह्न-वर्णन पृ० १६६, प्रातः कालवर्णन पृ० ७ इत्यादि। ग्रन्थ में न केवल अवतरण तथा उद्धरणों की भरमार है, अपितु लेखक के कथनानुसार—

'संस्कृत और हिन्दी साहित्यिक ग्रन्थों के अनुशीलन के बड़े-बड़े कवियों के सुन्दर-सुन्दर प्रयोग मन में जम गये हैं। उनकी अनूठी उक्तियाँ, उनके रूपक और सादृश्य उनके कलात्मक वर्णन इत्यादि मेरे स्मरण-पट पर गुप्त रूप से अङ्कित होते रहे हैं। एक या दो उदाहरण देना यहाँ पर पर्याप्त रहेगा—

'भगवान अशिशिरकिरण ने जतुशलाकाओं की निर्मित सुवर्णसम्मार्जिनी की भाँति अपनी सहस्रदीधितियों द्वारा आकाश-प्राङ्गण से पुष्प-समूह के अनुकरणकारी नक्षत्रों को बुहार कर एक ओर कर दिया है। (पृ० ७ तथा ८)

यह कादम्बरी के निम्नलिखित भाग का अविकल प्रतिबिम्ब है—

प्रतप्तलाक्षिकतन्तुपाटलाभिरायामिनीभिरिशिशिरांकरणदीश्तिभि: पद्म रागशलाकासंमार्जिनोभिरिव समुत्सार्यमाणेगगनकुट्टिमकुसुम प्रकरेतारागणे।

'आपके चरणों में चोट तो नहीं आयी' (पृष्ट१३) यह वाक्य हमको दुर्वासा के पदाघात से शयनोत्थित भगवान बिष्णु के कथन का कुछ स्मरण कराता है। 'मृगचर्म के संघषण से मेरी त्वचाजड़ हो गई है। आपके कोमलचरण अवश्य छिल गये होंगे' (पृष्ट १३) किन्तु इसमें भी अधिक यदि कोमलता आपको देखनी हो तो पुलकावली मात्र से चरण छिल जाने का भय दिखाते हुये किसी नायक की निम्नलिखित उक्ति को देखिये—

दासे कृतांगस भवत्युचितः प्रभूणां पादप्रहार इतिसुन्दरि नास्मि दूये। उद्यत्कठोरपुलकाङ्कितकन्टकाग्रैर्यच्छिद्यते तव पदं ननु सा यथा में।

अग्निहोत्र-धूम्र की लेखा की भाँति मालायमान वारावत कपोतों की पंक्तियां स्थित थीं ?' (पृष्ठ १६) यह भाव अक्सर संकृत काव्यों।में दृष्टिगोचर होता है। 'वेदाभ्यास से जड़ मति वाले, विषयकौतूहल से अनभिज्ञ ऋषियों ने ही तो शास्त्रों का निर्माण किया है। ऐसी सुन्दर साध्वी 'महिला की कल्पना भी विचारतीत होगी' (पृ० ५२)

यह विचारसरणि कालिदास की निम्नलिखित उक्ति से कुछ थोड़ी ही भिन्न है—

> वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहलो
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

शास्त्रों की परस्परविरोधिनी आज्ञाओं का समन्वय तथा अहिंसा सत्यास्तेय इत्यादि नीतितत्त्वों का निर्णय— इस पुस्तक में इस विषय को पढ़ने से चित्त में लोकमान्य विरचित 'गीता रहस्य' का स्मरण हो आता है।

२६ अप्रैल १६२९
सनातन धर्म कालेज,
कानपुर।

(स्वर्गीय) हरदत्त शर्मा

भ्रमित पथिक

प्रभात हुआ। प्रयाण के लिए मैं पुनः प्रस्तुत हुआ। उथल-पुथल करने वाली शर्वरी प्रमादकारी निद्रा ने मुझमें विशाल परिवर्तन कर दिये थे। मैं कल कौन था, यह भी भूल गया। मेरी स्थिति कल थी अथवा नहीं, इसके ज्ञान का भी ज्ञान मुझमें न रहा। परिस्थितियां नितान्त परिवर्तित प्रतीत होने लगीं। मेरी स्थिति उस झटित-उद्बोधित, अर्द्धनिद्रित, स्वल्पमुकुलितनयन-व्यक्ति की भाँति थी, जिसका सूक्ष्मतमकौशेयतन्तुनिर्मित, सद्यः अनुभूतस्वप्नजाल उद्बोधन के झटके से उलझ गया हो। स्मरण-मन्दिर अन्धकारमय था। चिरअनुभूत क्रीड़ास्थली के पूर्व परिचित अभिनेताओं के नवीन संस्करणों का ज्ञान मुझे न था। सौखशायनिकों को भी मैं पहचान न सका। हाँ, एक सहचरी का विस्मरण न हुआ था वह थी स्थिति-धारण की बलवती आकांक्षा। उसी ने इस नवीन संस्करण को अर्वाचीन वातावरण के प्राङ्गण में अभिनय करने के लिए पुष्ठ किया। मेरी निरन्तर अटनशीलता ही इस सहचरी की प्रसवकारिणी है।

भ्रमण की फिर सूझी। उठने का प्रयास किया। मन ही मन उठा और बैठ गया। मैंने इस क्रिया को स्वप्न का इन्द्रजाल समझा। शुभ्र सुसज्जित शयनागार की झिलमिलाती हुई प्रकाशावलि को मैंने विभावरी का उल्कापात समझा। पूर्वाभिमुखी वातायनों से प्रविष्ट अशिशिर किरण की रश्मियों को मैंने शुभ्र ज्योत्स्ना समझा। सोचने लगा, रात बीत ही जायगी। शीघ्र ही पक्षियों के कलरव की मधुर तान ने कर्ण-विवरों में उषा का सन्देश पहुँचाया। जी न माना, पर्यंक छोड़कर पृथ्वी पर आया।

मैंने खड़े होने की चेष्टा की किन्तु तुरन्त ही लड़खड़ा कर गिर पड़ा। मैंने बोलना चाहा किन्तु वाक्यंत्र अशक्त था। अपनी निर्बलता पर मैं रोया और बार-बार रोया, किन्तु प्रयास करना एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ा। कुछ और समय बीता। अपने प्रयास में और भी प्रयत्न किया। साधन थे, पर उनमें शक्ति न थी। बहुत समय बीत गया। समय आया, परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं। इच्छा-प्राबल्य-जनित-क्रिया-शीलता से साधनों में सामर्थ्य उत्पन्न हुआ। प्रयास में सफलता मिली।

नेत्र देखने लगे, कान सुनने लगे। पैरों ने प्रेम-परिप्लावित-पुरुषों के दृष्टि पाँवड़ों पर पैर रखना प्रारम्भ

किया। नासिका में भी सुगन्ध और दुर्गन्ध का विवेक उत्पन्न होने लगा। रसना स्वादु की परिभाषा समझने लगी। कानों में मधुर कलरव और कर्कश नाद की विभिन्नता के ज्ञान की क्षमता उत्पन्न होने लगी। सर्वतोन्मुखी अन्तर्हित मेरी सारी शक्तियों का प्रस्फुटन होने लगा। प्रावदायनी और विवेकहारिणी निद्रा के नशा का अन्त हुआ। मेरे लिए पुनः प्रभात हुआ। मैंने फिर प्रस्थान किया।

मार्ग में कुछ दूर चल कर भूख लगी। यत्र-तत्र दृष्टि-निक्षेप की। कुछ फल-फूल खाये। बुभुक्षा और पिपासा की वृद्धि हुई। और भी अधिक भोजनों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। एक अनुभवशील सह-पथिक ने चार अनोखे व्यञ्जनों का परिचय दिया। उनकी सुगन्धि सारे विश्व में व्याप्त थी। प्रथम ग्रास के पश्चात् मेरी मुखाकृति से सहचर ने यह अनुमान किया कि अकिञ्चन होने के कारण मैं ऐसे स्वादिष्ट भोजनों से अनभ्यस्त हूँ। किन्तु शनैः शनैः स्वादु-शक्ति का विकास हुआ और फिर यही मेरे नित्य के आहार हो गये। जिह्वा ने चिंतना को निकशित किया। तृषा का प्रादुर्भाव हुआ। अठारह घूँट जल की आहुति दी। जल न था, हिमखण्ड के सदृश शीतल, द्रवीभूत-वैदूर्यमणि की भाँति स्वच्छ और

सुगन्धित पुष्प-मद से भी अधिक सुरभित स्वर्ग का अमृत था! इसकी सुगन्ध ने दूर-दूर के भ्रमर लुब्ध कर रखे थे। सबके मनों के साथ मेरे चित्त में भी शान्ति हुई। पथिक पथिकत्व से च्युत हो गया। नित नयी क्षुधा और तृषा की तृप्ति के लिये नित नये आयोजन होने लगे।

कुछ मित्रों ने षट्रस रञ्जित पक्वान्न खिलाए। इनका स्वादु शब्दातीत था। पाक-शास्त्र-विशारदों ने अपनी विरुदावलियों में इन पक्वान्नों को अखिल विश्व के विचारशील व्यक्तियों का स्वादिष्ट भोजन बताया है। बात भी ऐसी ही थी। मुझे भी बहुत अच्छे लगे। फिर एक दूसरे पथिक ने—जिसने अपने आपको स्वाद विज्ञान-कुशल प्रख्यात रखा था—प्राचीन प्रथा द्वारा परिपक्व दो पक्वान्नों को मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया। परिचायक का यह गर्व था कि इनमें अनेक प्रकार के उप-पक्वान्न मिश्रित हैं। स्वादु वास्तव में अनोखा था। इनकी दिगन्त-व्यापिनी कीर्ति ने संसार को धवलित कर रखा था।

उपर्युक्त दो पक्वान्नों में एक पक्वान्न का अधिकांश भाग खोये से बना था। उस खोये का निर्माण-विधान अत्यन्त जटिल और अपूर्व है। सारे संसार के वस्तु-

पृथक्-कार वैज्ञानिकों ने इसके तत्व का अनुसन्धान किया। पर वे किसी निष्कर्ष पर न पहुँचे।

कहा जाता है कि एक परम निपुण दोग्धा ने अनन्त काम-धेनुओं को दुहकर इस खोये को प्रस्तुत किया था। इसे खाते ही रसना में मधुरता का विवेक उत्पन्न हो गया। इस खोये में विवेक-शक्ति के उत्पादन का अद्वितीय गुण था। मैं इसका निरन्तर सेवन करने लगा। मुझे जान पड़ा, मानो मेरे समान भ्रमित पथिक की यात्रा में इसका सेवन पथ-प्रदर्शन का काम करता है।

अनायास गेरुआ वस्त्रधारी दो कपाली मिले। इनके कमण्डलों में क्षुधा-तृप्ति की सामग्री थी। लोचन ललचाये, रसना में जल आ गया। इन कापालिकों की यह प्रतिज्ञा थी कि ये निरामिष भोजन खाते और खिलाते थे। दोनों कापालिकों के साथ दो दो शिष्य थे एक का मुँह पीला, नाक चपटी, नाटा-सा शरीर था। नशे के झोंके में यह ऊँघ सा रहा था। दूसरे की आकृति भी वैसी ही थी। परन्तु वह अधिक सजग, जागरूक, उन्नत कपाल और युवावस्था के मद से उन्मत्त था। ऐसा प्रतीत होता था कि यह किसी प्रकार का मादक द्रव्य स्वीकार नहीं करता। तीसरा शिष्य नग्न और चौथा श्वेत-वस्त्र धारण किये था।

दोनों सूख कर अस्थि-पञ्जर-अवशेष हो रहे थे। किन्तु तीसरे और चौथे की आकृति और कापालिकों की आकृति में कोई विशेष अन्तर न था। दोनों कापालिकों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्होंने निरामिष भोजन बनाने का विधान एक ही स्थान पर एक ही समय अपने-अपने गुरुओं से सीखा था। मैंने बड़े विवेक के साथ इनके करों से भोजन-दीक्षा ग्रहण की।

पश्चिम-मार्ग से आते हुए कुछ नवीन पथिक दृष्टि-गोचर हुए। रङ्ग-रूप में ये कर्पूर की भाँति उज्वल थे। वे लोग मुझे अपनी पाकशाला ले गए। कुर्सी में बैठकर टेबुल पर मैंने उनके साथ काँटे-छुरी से भोजन किया। कहा जाता है कि काँटे का मुकुट रखने वाले एक लंगोटी बाबा के ये लोग चेले हैं। भोजन करने के पश्चात् बाबा की बुद्धि की भी मैंने प्रशंसा की, जिसने अपने भोजनों से सारे संसार को मोह रखा है।

और आगे बढ़ा। बुभुक्षा फिर तीव्र हो उठी। सम्मुख एक जत्था दृष्टिगोचर हुआ। उनके मुकुट और कर लाल थे। उन्होंने मेरे मुँह मे अपना भोजन ठूँस दिया। बुभुक्षित होते हुए भी इस प्रकार के भोजन मुझे स्वीकार न थे और मैंने उनके इस अशिष्ट व्यवहार का प्रतीकार

करना चाहा। परन्तु ग्रास मुख में पहुँच चुका था। भोजन करते समय मुझे जान पड़ा कि भोजन वास्तव में इतना बुरा न था जितना कि उसके खिलाने वाले बुरे थे। कुछ वस्तु तो विशेष रूप से उत्तम थी। कुछ मित्रों ने बताया कि इस भोजन का यह प्रभाव है कि जो व्यक्ति इसे खाता है वह उन्मादित होकर यह भोजन दूसरे को खिलाने का प्रयत्न करता है। किन्तु इस भोजन का मुझ पर इस प्रकार का कोई प्रभाव न पड़ा। हाँ, इस भोजन के करने के पश्चात् उन लोगों के प्रति मुझमें कुछ समता और सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो गया।

इस नवीन आतिथ्य से मैं अत्यन्त श्रांत-सा होकर एक नीम के वृक्ष की रम्य छाया में सो गया। रात-भर सोता रहा। भगवान अशिशिर किरण ने जतुशलाकाओं की निर्मित सुवर्ण सम्मार्जिनी की भाँति अपनी सहस्रों दीधितियों द्वारा आकाश-प्रांगण से पुष्प समूह के अनुकरणकारी नक्षत्रों को बुहार कर एक ओर कर दिया। नृत्य-सन्देश-दायी समीर द्वारा सञ्चालित पल्लवों के स्थानान्तर होने के कारण, परिवर्तित-पतन-प्रदेश सूर्य-रश्मियों की उष्णता का मुझे अपने मुख पर आभास हुआ। रोमन्थमान वन महिषों के फेन से युक्त, प्रकृति का उपकार-भूत प्रातः

कालीन जलकण समूह का अपहरणकारी; सद्यःप्रस्फुटित सुगन्धित पुष्प-पराग से सुरभित, वन पशुओं को सजग करता हुआ, प्रातःकालीन मातरिश्वान् ने जागरण का संदेश दिया। मैं उठा और हाथ-मुँह धोकर प्रयाण के लिए प्रस्तुत हुआ। चाल में वह वेग न था। बार-बार चौकन्ना हो उठता था। जहाँ कहीं चौरहा मिलता था, बड़े विवेक के साथ अपना मार्ग निश्चय करता था, मानो मुझे अपने निर्दिष्ट स्थान तक निश्चित रूप से पहुँचना है।

क्षुधा-तृप्ति की मृग-तृष्णा में इतने दिनों तक भ्रमते-भ्रमते मस्तिष्क की इतनी जागरूकता का मुझे भी गर्व हो गया कि मार्ग के असाधारण से असाधारण प्रलोभन मुझे पथ-भ्रष्ट न कर सकेंगे। मार्ग के सहगामी पथिकों को जब कभी मैं व्यर्थ के भोजन करते देखता, तो दूर होने पर भी, मैं उनके निकट जाकर उन्हें समझाता कि इस प्रकार समय नष्ट करना मूर्खता है। जो मेरी बातों की उपेक्षा करते उन्हें दो-चार खरी-खोटी सुनाकर यह चेष्टा करता कि मेरे अनुभूत वचनों को वे लोग वेद-वाक्य मान लें। "लोगों को भोजन की आवश्यकता है या नहीं" गुरुत्व के मद में आकर यह सोचना भी मेरे लिए कभी-कभी कठिन हो जाता था। दूसरों का सुधार करने की उत्कण्ठा

अत्यन्त प्रबल हो गयी और अपनी यात्रा को कुछ दिनों के लिए स्थगित करके लोगों की कलुषित भावनाओं को अपने वचनामृत से स्वच्छ करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

मेरे अनुचरों की संख्या सहस्रों तक पहुँच गई। स्थान-स्थान पर मेरी अर्चना होने लगी। बड़े-से-बड़े व्यक्ति भी मेरे स्वागत का अर्घ्य उपस्थित करने लगे। दूर-दूर से लोग मेरे दर्शनों के लिए आने लगे। चित्त प्रसन्न हुआ। आमोद-प्रमोद के प्रवाह मस्तिष्क में कल्लोल करने लगे। किसी भी निम्न-जन्मज को मैं अपने पास न बैठने देता था। मेरे गौरव के प्रतिकूल यदि कोई एक शब्द भी उच्चारण करता तो मेरे शिष्य उस पर पक्षिराज से अधिक वेग से टूट पड़ते। मैंने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया था। एक निकटवर्ती शिष्य ने कान में छिद्र करके शीशे के छल्ले पहना दिए। दूसरे ने हाथ में चिमटा दे दिया। इस वेश-भूषा ने वास्तव में मुझ में कुछ परिवर्तन कर दिया।

इस वेश में मेरा मान अधिक बढ़ गया। सहस्रों स्त्रियाँ दर्शन-हित आने लगीं। मैंने उन्हें दर्शन देना अस्वीकार

कर दिया। विद्वद्जन अपनी-अपनी शङ्काएँ लेकर मेरे समीप उपस्थित होते और मैं तुरन्त उनका समाधान किया करता। उच्चकोटि के विद्वान् आते और सन्तोष के साथ लौट जाते। भीड़ बढ़ने लगी। विश्व के कोने-कोने से विद्वानों ने आकर अपनी शङ्काएँ निवृत्त कराईं। प्रशंसकों की उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर मैंने यह नियम कर लिया कि मेरे पास केवल वही सज्जन आवें, जिनको किसी विश्वविद्यालय की कोई उपाधि मिली हो। बहुधा मैं बड़े-बड़े व्यक्तियों को धक्के मार कर निकलवा दिया करता था। सारे संसार के मनुष्य मुझे मूर्ख देख पड़ने लगे। बड़े-बड़े धुरन्धर लब्धप्रतिष्ठ कवि, सुलेखक, गणितज्ञ, नैय्यायिक तथा तत्वदर्शी व्यक्तियों को मैंने मूर्ख बनाकर अप्रतिष्ठा के कूप में सर्वदा के लिए ढकेल दिया। ख़ूब वाह-वाह हुई। लोगों को मूर्ख प्रमाणित करने में मैं महात्मा सुक़रात से भी बढ़ गया।

खोये के पक्वान्न का प्रतिदिन सेवन करने के लिए मैं अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करता था यद्यपि मुझे स्वयं उसको सेवन के लिए अवकाश न था। शिष्यों की अवस्था विचित्र थी। मैंने देखा कि चिमटा बजाना और चरस पीना ही उन्हें अधिक प्रिय था। अपनी साधु भाषा में वे

इसे शीघ्र-बोध कहा करते थे। मुझ पर उनकी भक्ति और श्रद्धा है, इस पर भी मुझे कभी-कभी सन्देह हो जाता था। मैं देखता था कि यदि किसी दिन उन्हें भण्डारे से चरस न मिलती तो फिर दूसरे दिन उनके दर्शन न होते। शिष्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही जाती थी। मेरे एक शिष्य ने मुझे एक बार यह समझाने की चेष्टा की, कि शिष्यों की बाढ़ अच्छी नहीं। यह एक अवधूत शिष्य था। यह बहुधा अपना बेसुरा राग अलाप दिया करता था। इसे मैंने मूर्ख समझकर टाल दिया। रात्रि में सोते समय कुछ विचार अवश्य उत्पन्न हुए परन्तु चिंता क्या थी? झट नींद आ गयी। मुझे एक स्वप्न हुआ। स्वप्न में एक अवधूत अचानक देख पड़ा। उसने मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की। साथ-ही-साथ उसने मुझे आदेश दिया कि मैं अपनी महत्ता का प्रदर्शन इस निन्दनीय ढंग से न किया करूँ। मुझे अन्तिम शब्द अच्छे न लगे। मेरे नेत्र खुल गये। अभी अर्द्ध-रात्रि थी। मैं उस अवधूत को पहचान गया था। यह वही मेरा पुराना शिष्य था। उस दिन जब मेरे भण्डारी ने शीघ्रबोध वितरण करने में विलम्ब कर दिया था, तो अन्य सब शिष्य चिमटा ले-लेकर चम्पत हो गये थे। केवल यही एक मेरे पास रह गया था। मैं

इससे तनिक भी प्रेम न करता था। किन्तु यह इतना अधिक नम्र तथा सुसेवक था कि मैं इसकी उपेक्षा न कर सकता था। किन्तु उसने मुझे परामर्श देने का साहस किया, यह अपराध उसका अक्षम्य था। मैं गुरु और यह शिष्य! इसको कैसे साहस हुआ कि मुझसे कुछ कहे। शीघ्र ही मैं सोचने लगा कि यह तो कमली ओढ़े मेरे पैरों के पास पड़ा है, मुझे आदेश कौन दे रहा है। मुझे भ्रम हो गया होगा। मैंने पुन: नेत्र बंद कर लिए। अर्द्ध-निद्रित अवस्था में मैंने फिर उसी अवधूत को अपने सम्मुख देखा। इस बार मैंने उसे भले प्रकार पहचान लिया। झट उठकर उस मूर्ख के एक ठोकर दी। उसने तुरन्त निर्निमेष होकर मेरे चरणों को नम्रता के साथ पकड़ लिया, और भक्ति-भाव से पूछने लगा कि आपके चरणों में चोट तो नहीं आई। आप पादत्राण धारण करके चरणों का प्रयोग किया कीजिये। मृग-चर्म के सङ्घर्षण से मेरी त्वचा जड़ हो गई है। आपके कोमल चरण अवश्य छिल गये होंगे। इसके इतने कातर वचन सुनकर चित्त का एक अञ्चल करुणा की वायु से क्षुब्ध हो उठा। किन्तु मद के प्रचण्ड झोकों ने नाममात्र के लिये अवशेष अनुकम्पा की क्षीण ज्योति को सर्वदा के लिए विदा कर

दिया। मैं वेग से कह उठा—ऐ गुरु बनने वाले शिष्य, यहाँ से पलायमान हो। यह कहकर मैंने अर्द्धचन्द्र द्वारा उसे कुटी से निकाल दिया। अन्य मदकची शिष्य इस पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि अब उन्हीं का साम्राज्य है, और मनमाना शीघ्रबोध उड़ेगा। बुझते हुए दीपक की अन्तिम ज्योति की भाँति एक बार पुनः मेरे हृदय में पश्चाताप प्रज्वलित होने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु सोते समय कभी प्रकाश अच्छा नहीं लगता। निद्रा का साम्राज्य स्थापित हो गया और मैं शीघ्र खर्राटे भरने लगा।

अनायास जन-समूह के एक महान-चीत्कार ने मुझे उद्बोधित किया। ऐसा मालूम हुआ कि कुछ डाकुओं ने मेरी कुटी के आक्रान्त कर ली। मैं शीघ्र उठ खड़ा हुआ। चित्त में कोई विशेष उथल-पुथल न थी। मेरे पास कहाँ की सम्पत्ति है जो चोर मेरी कुटिया घेरेंगे। इस सान्त्वना-वायु ने सहसा प्रज्वलित भय-दीप-शिखा को मन्दप्राय कर दिया। मैंने प्रबल स्वर से अपने शिष्यों का आह्वान किया। किसी ने उत्तर न दिया। पीछे से ज्ञात हुआ कि वे आततताइओं की आहट से ही पलायमान हो गए थे। कई बार बुलाया कोई न बोला। आक्रमण-

कारियों के कुल्हाड़े किवाड़ों पर बजने लगे। शीघ्र ही चिमटाधारियों के झुण्ड-के-झुण्ड ने सहसा कुटी में प्रवेश किया। मुझे कुछ न सूझा। मैंने अर्द्धस्फुट स्वर में कई बार कहा कि मेरे पास कोई धन नहीं है। मालुम हुआ कि उनके कर्ण-विवरों में रन्ध्र ही नहीं हैं। दो अन्य शेष इन्द्रियाँ उनकी अत्यन्त शक्ति-शालिनी प्रतीत होती थीं। उन आतताइयों में से एक ने उत्तुङ्ग पर्वत से स्खलित जल-प्रपात के वेग से मुझे पर्यङ्क-च्युत कर दिया। बड़ी निर्दयता के साथ मेरे ऊपर प्रहार किये गये। अन्य आगन्तुकों से आध हाथ ऊँचा, कज्जलगिरि की भाँति असित-कलेवर वाला लौह-पाणि एक विशिष्ट डाकू की आज्ञानुसार अन्य डाकू कार्य करते थे। क्रुरता में यम-सेना को ये लोग पराजित कर रहे थे। मालूम होता था कि मघवा के वज्र से छिन्न-पक्ष होकर प्रतिस्पर्धी कज्जल-पर्वत-समूह अँधेरी रात्रि में गौतम की कुटी में इन्द्र को ढूँढ़ रहा है। नेता की आज्ञा सब बड़ी तत्परता से मानते थे। उसने कहा कि वैजयन्ती-माला लाओ। मैंने सोचा यह क्या? लोग अवश्य मुझे विजयमाला पहनाने में अपना गौरव समझते थे। किन्तु मुझे इतना प्रतारित करके वैज-यन्ती-माला पहनाने का क्या अभिप्राय? तुरन्त ही भेद

खुल गया। मेरे वृषभ-स्कन्धों पर चर्म-पादत्राण का हार डाल दिया गया। मैंने इसका प्रतिरोध करना चाहा किन्तु मेरे हाथ-पैर बंधनयुक्त कर दिये गये थे। एक कृष-गात कौपीनधारी आततायी ने मूर्तिमान काल की भाँति लम्बी छुरिका लेकर मेरी नासिका की ओर आक्रमण किया। किन्तु नेता के सङ्केत से उसने अपना क्रूर-कर्म स्थगित कर दिया। मैंने इतना कहते सुना कि इसने भी तो गुरुदेव को नासिका विहीन करवादिया था। स्मरण-मन्दिर को पुनः पुनः खटखटाने के पश्चात् मुझे स्मरण आया कि वास्तव में मेरे कुछ शिष्यों ने एक व्यक्ति का भारी अपमान किया था और उसकी नासिका का भी अपहरण किया था। सारा प्राचीन क्रूर इतिहास चलित-चित्रकला के प्रदर्शन की भाँति मेरे स्मरण-पट से निकला। मेरे शिष्यों ने क्या क्रूर-कार्य नहीं किए ? खैर, अब क्या ? यह मैं तुरन्त समझ गया कि ये आततायी अपने गुरुओं के अपमान का प्रतीकार करने आये हैं। मैं लकुटवत् पृथ्वी पर गिर पड़ा। गिड़गिड़ा कर अपने अपराधों की क्षमा-याचना करने लगा। पृथ्वी पर नाक तक रगड़ी। प्राण-रक्षा की प्रचण्ड वायु ने अपमान की मन्द अग्नि को शीतल कर दिया था। इन आगन्तुकों ने मुझे बहुत क्रूर शब्द कहे। कुछ मेरे निजी शिष्य भी इनमें

सम्मिलित थे। मेरी बड़ी हँसी उड़ाई गई। मेरी आँखें खुलने लगीं। शिक्षा की कड़ुवी गोली अपमान की चीनी में लपेट कर मेरे गले में ठूँस दी गई। पञ्चाङ्गुलियों का ऐक्य साध कर इन शत्रुओं ने कई बार मेरा शरीर प्रतारित किया। आज पहला दिवस था कि ऊपर नेत्र करने का साहस करना भी मेरे लिये कठिन था। मैंने आज अनुभव किया कि नतमस्तक रखने से कितनी ग्लानि होती है। मस्तक उठाना मानो प्राण-पखेरुओं के लिये कलेवरपिञ्जर का कपाट खोल देना है। जिस अवस्था में मैं औरों को देखकर विनोद किया करता था उसी अवस्था में अपने को पाकर अवाक् हो गया मेरे नेत्र, जो सर्वदा ऊपर ही रहा करते थे, आज मानो पृथ्वी में विलीन होना चाहते थे। महारजा निमि का इन पर सर्वदा वास होने के कारण मानो इन्हें यह व्यवस्था मिली है कि अपने स्वामी की कुलपद्मिनी कीर्तिध्वजा प्रसारिणी पृथ्वी-विलीना वसुन्धरा-कन्यका का अन्वेषण करें। लज्जा भी इन आततायियों के भय से मेरा साथ छोड़कर चली गयी। धोखे से एक बार उन्नत मस्तक करने की चेष्टा की। तुरन्त ही वज्र के वेग से उनका हस्तदण्ड मेरी नासिका पर पड़ा। मुँह झट नीचा हो गया और नेत्र धूलि में गड़ गए। मानो

वे अधिक तत्परता से लज्जा रूपी रत्न को ढूंढ़ने लगे। मैं संज्ञाहीन हो गया। पश्चात् उन आततायियों के क्रिया-विधान में मेरा कोई सचेत यात्रित्व न रहा।

रात्रि नष्ट हुई। और उसी के साथ-साथ मेरे दुख की अन्धकारमय-रात्रि का भी विनाश हो गया। मैं बिल्कुल एकाकी था। नाक में पीड़ा वेग से हो रही थी पैर और हाथ वैसे ही बँधे थे। अपमानकारी हार अभी ग्रीवा में पड़ा था। पहली चिन्ता यह हुई कि कोई मुझे देखता तो न था। नक्षत्रों की दर्शन-शक्ति को सूर्य की रश्मियों ने चकाचौंध कर दिया था। रात्रि में पुञ्जीभूत तम-समूह का निराकरण करने में सूर्य भगवान रत थे। चक्रवाक अपनी विरहिणी पत्नी से सम्मिलन के लिए विह्वल था। प्रातःकालीन उषा की लोहित किरणें भी मानो मेरे निकट आने में तिरस्कार अनुभव करती थीं। उन्हें भय था कि मेरी नासिका के रक्त की भाँति कहीं उनकी अरुणिमा भी कलुषित न हो जाय। प्रातःकालीन शीतल-मन्द-सुगन्ध-वायु भी मुझे तिरस्कार करके केवल वृक्षों के उच्चतम पल्लवों को ही सञ्चालित कर रही थी। निकटवर्ती नदी के प्रवाह के कर्कश शब्द में तनिक भी अन्तर न था। मानो आपगा का यह प्रवाह अब भी मुझे यह सन्देश देता

था कि अन्य मृत शवों की भाँति मुझे भी प्रवाहित करने के लिए वह शक्ति-सम्पन्न है। कूल-स्थित वृक्षों को समूल नष्ट करने में वह इतना निरत था कि उसे मेरी दुःख-गाथा सुनने का समय कहाँ था। प्रकृति का छोटा प्राणी चिंउटी-समूह भी अपने अण्डों को इधर-उधर ले जाने में अनुरक्त था। और मेरी ओर ध्यान कौन देता? मेरी ही रोटियों से पला हुआ, धूप-छाँह से मेरी ही कुटी में आत्म-रक्षा करने वाला झींगुर भी अन्य दिनों की भाँति वही मस्ती की झनकार कर रहा था। शृगाल मृत-शवों के निकट भोजनों के लालच से खड़ा था। किन्तु मृत-तुल्य होने पर भी अपमान की दुर्गन्धि ने मेरे निकट के वाता-वरण को इतना दूषित कर दिया था कि वह भी इधर आना स्वीकार न करता था। सर्प काटने के लिए भी मेरी ओर न आता। कोयल उतनी ही मस्ती से कूक रही थी। उसको मेरा क्या ध्यान! विकटवर्ती वृक्ष के खोखले में पक्षी उसी तत्परता के साथ अपनी चञ्चु रगड़ रहे थे, और कीड़ों को अर्ध-चर्वित करके नीड़-स्थित पक्षि-शावकों को दे रहे थे। केकी-कलाप मण्डल बनाकर नित्य की भाँति नृत्य कर रहा था। शुक समूह अपने-अपने नीड़ों से निकल कर गोल बाँधकर दक्षिण की ओर जा रहे थे।

एक ओर मुझसे उपेक्षा करके निकटवर्ती वृक्षों पर, अग्निहोत्र धूम्र की लेखा की भाँति मालायमान पारावत-कपोतों की पंक्तियाँ स्थित थीं। ऐसा प्रतीत होता था मानो वायु के निरन्तर प्रतारण से पीड़ित, अवकाश प्राप्त करके, प्रातःकाल, मेघमाला ने उत्तुङ्ग पर्वत-स्थित वृक्ष समूहों की शिविरों को वायु का निवास-स्थान समझ कर अर्धसुप्त अवस्था में ही उसके गढ़ को घेर लिया है। वक-समूह भी अपने कार्य में रत था। 'सरिताभिमुखी उनकी पंक्तियों की प्रगति वर्षाकालीन श्रोत-प्रवाहों का स्मरण दिलाती थीं।

अचानक एक छोटा-सा पक्षी वेग के साथ मेरे पास आकर गिर पड़ा। उसी क्षण विद्युत् के वेग से एक महान पक्षी उसे झपट कर उठा ले गया। शरणागत की इतनी रक्षा भी मैं न कर सका। मुझे बड़ा खेद हुआ। मेरी यह दीन दशा! मुझे हाथ-पैर बँधवाने में इतना कष्ट न हुआ था, चर्म-माल धारण करने में भी इतना खेद न हुआ था, आततायियों के प्रहार से रक्त देखकर भी इतनी ग्लानि न हुई थी जितनी उस शरणागत पक्षी की रक्षा न कर सकने के कारण हुई। हा भगवन्! क्या आपने इसीलिए मुझे बन्धन में डाला था? क्या अपनी अकृपा प्रकट करने का

आपके पास कोई और साधन न था? मेरी यह दयनीय दशा! केवल एक कौपीन अवशेष था। पीछे हाथ बँधे हुए, जूतों का हार डाले पड़ा हूँ। प्रकृति का कोई भी प्राणी मेरी ओर तनिक भी आकृष्ट नहीं होता। नदी का वही वेग है। पक्षियों की वही प्रसन्नता है। वन-मृगों की वही अस्थिरता। भौंरों की वही भनभनाहट। पुष्पकलियों का वही चिट-खना। मोरों का वही नाच। कोयल की वही कूक। बन्दरों की वही दौड़-धूप। मृगशूकरों का वही पर्यटन। प्रातःकाल की वायु द्वारा वृक्षों का वही मन्द सञ्चालन। मेरे इस परिवर्तन का किसी पर भी प्रभाव नहीं पड़ा। ऐ मूर्ख प्राणी! कहाँ है तेरी शान-शौकत? कहाँ हैं तेरे शिष्य? तेरा भंडार कहाँ चला गया? तेरी विद्वत्ता कहाँ है? तेरा मान-ऐश्वर्य कहाँ है? किसके लिए तुझे गर्व था? तेरी बाट जोहने वाले अनुचर कहाँ है? मानव महत्ता की यह अस्थिरता! परिस्थितियों की यह प्रतिकूलता! मैंने वास्तव में बहुतों का अपमान किया था। अहङ्कार के मद! तूने क्या नहीं मुझसे कराया? अब इस निर्जन वन में कौन है तेरा साथी? किसे बुलावेगा? गला भी सूख गया है। इस समय यदि मेरा अवधूत शिष्य ही होता तो सूखे ओठों में थोड़ा जल ही डालता। परन्तु इस अभागे ने तो उसे

पहले ही रुष्ट कर दिया था। मिले तो उसी के चरणों पर मत्था रगड़ूँ। हाय परमेश्वर!

न मालूम कितनी देर मैं निराशा की निद्रा में पड़ा रहा। आँखें खुलीं तो देखा कि मेरा अवधूत शिष्य सम्मुख उपस्थित है। उसने पहले ही से मेरे गले का हार उतार कर कहीं छिपा दिया था। हाथ-पैर भी खुल गए थे। सचेत होते ही मैं उसके चरण-चुम्बन के लिए अधीर होकर दौड़ा। उसने हाथ पकड़ कर कहा, "गुरू जी आप क्या करते हैं!" क्या आपका चित्त अभी स्वस्थ नहीं? मैंने कहा यह कुछ नहीं, मुझे क्षमा करो। वह कुछ न बोला और कहने लगा आइए भोजनों के लिए कुछ प्रबन्ध करें। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। एक स्थान पर थोड़ी देर चल कर उसने मुझ से शीशे के बाले उतार कर फेंकने का आग्रह किया। मैंने तुरन्त उसकी आज्ञा मान ली। चिमटा कुटी ही में रह गया था। अवधूत ने अपने झोले से निकाल कर सुन्दर वस्त्र मुझे पहनने को दिये। मैं उन्हें स्वीकार करने में हिचकिचाता रहा। परन्तु उसकी आँखों में इतना प्रकाश था कि मैं भयभीत होकर उसकी बात मान गया। एक स्थान से उसने भोजन मँगवा दिये। पुनः उसने मेरी यात्रा का स्मरण दिलाया। यह भी मुझे उससे

ज्ञात हुआ कि मैं अपने मार्ग से बहुत दूर आ गया हूँ। मैंने कहा भगवन्! मुझे घर का सीधा मार्ग बतला दीजिए। उसने अपनी तर्जनी उठा कर एक दिशा की ओर सङ्केत किया और कहा कि इसी मार्ग पर सीधे चले जाइए। इधर-उधर दृष्टि देने से पथ-भ्रष्ट हो जाने की आशंका है। मैंने कहा, बहुत अच्छा। हम दोनों थोड़ी दूर चले। वह अवधूत थोड़ी दूर पीछे हटा। मैंने यह समझा कि यह मेरा शिष्य था। अतएव मेरे बराबर चलने में इसे बड़ा संकोच होता है। एक कुँए पर पहुँच कर उसने मेरी कटी हुई उँगली की मरहम-पट्टी की और कहने लगा कि आप इसे न भूलिएगा।

हम दोनों चले। मैं यह सोचने लगा कि इस अवधूत के पास डिबिया में कौन सी औषधि है जिसको उँगली पर लगते ही तुरन्त पीड़ा कम हो गई। इस विचार में मैं ध्यानावस्थित हो गया और ज्यों ही फिर कर देखा तो अवधूत का कहीं पता न था। कई बार हाँक दी किन्तु किसी ने न सुना। इधर मैं कुछ श्रम अनुभव करके एक विशाल वृक्ष की छाया में सो गया। यह वृक्ष एक पंचराहे के बीच में था। सोते समय मुझे यह बिलकुल निश्चित था कि मुझे किस मार्ग जाना है। किन्तु सोकर उठने के बाद मुझे यह ज्ञान न

रहा। थोड़े ही समय में बाँयें मार्ग से आता हुआ एक यात्री दृष्टिगोचर हुआ। यह अत्यन्त श्रांत प्रतीत होता था। उस निर्जन स्थान में इसे देख कर मुझे बड़ी सान्त्वना हुई। जिस मार्ग की ओर से यह आ रहा था वह बहुत ही रम्य ,था। पग-पग पर सुरभित पादपों की पंक्तियाँ थीं। विहङ्गम-समाज आनन्द से कलरव कर रहा था। स्थान-स्थान पर सुन्दर वाटिकायें उपस्थित थीं। मन्द-मन्द वायु के सुरभित झोंके मेरे निकट तक आ रहे थे। श्रांत यात्री धीरे-धीरे मेरे निकट आया। मैंने खड़े होकर उसका स्वागत किया। परस्पर अभिवादन के पश्चात् हम दोनों शान्ति-पूर्वक बैठ गये। किञ्चित काल तक वह निर्निमेष दृष्टि से मेरी ओर देखता रहा। मेरी दृष्टि उसकी रक्त-रञ्जित तर्जनी पर अनायास पड़ी। ध्यान से देखने से ज्ञात हुआ कि उसकी भी एक उँगली कटी थी। कटे स्थान पर किसी ने मरहम लगा कर बाँध दिया था। मैंने अनायास उससे यह पूछ बैठने की धृष्टता की कि उसके यह चोट कहाँ लगी। उसने थोड़ा बहुत विचार करके ठण्ढी साँस लेकर कहा कि इसका उत्तर कठिन है। मुझे एक इतिहास की पुनरावृत्ति करनी पड़ेगी। यह सुन कर तो मेरी उत्कण्ठा और भी विवर्धित हुई। मैंने उससे अधिक आग्रह किया। उसने

अपना परिचय बड़े ही मधुर स्वर से आरम्भ किया :—

"जिस मार्ग से मैं आ रहा हूँ उससे लगभग एक मील की दूरी पर एक बहुत ही सुन्दर काँच का रम्य प्रासाद है। उसका स्वामी एक अत्यन्त सुन्दर षोडस-वर्षीय नवयुवक है। उसके सौंदर्य-लावण्य से विमोहित होकर बहुत से यात्रा सर्वस्व भुला कर उसके स्थान के अतिथि बने हैं। यह अत्यन्त सरल स्वभाव और स्मितभाषी है। अतिथि-सत्कार करने में भी बड़ा निपुण है। सौजन्य का मूर्तिमान स्वरूप है। सम्भाषण-गुण में बड़ा पटु है। आक्रमणकारी होने पर भी चित्त को आकर्षित करता है। एक पुष्प-वाण सुसज्जित कार्मुक सर्वदा अपने हाथों में रखता है। इसी के प्रहार से वह आगत यात्रियों का सत्कार करता है। वे भी इस विलक्षण आतिथ्य का प्रतिरोध नहीं करते, वरन् सहर्ष इसके वाणों का स्वागत करते हैं। आघात-जनित पीड़ा के स्वादु में उन्हें आनन्द आता है और इसी स्थान पर निवास करने से उन्हें सान्त्वना प्राप्त होती है। पुष्प-वाणधारी यह व्यक्ति प्रतिक्षण पर्य्यटन किया करता है। सारे रम्य-स्थान में, वाटिका, वापी, कूप, तड़ाग सभी स्थानों पर इसका

साम्राज्य है। चर और अचर इस पर विमोहित होकर अपनी व्यवस्था भुला देते हैं। जलचर-थलचर-खेचर सभी को इसने आत्मसात कर रखा है। यह किसी से कुछ नहीं बोलता। इसके देखते ही उनके शरीर उथल-पुथल हो जाते हैं। अगणित नववयस्का सहचरियाँ उसके साथ भ्रमण किया करती हैं। उसके निकट रह कर किसी को बुभुक्षा और पिपासा तक नहीं सताती।"

इतने में मुझे कुछ ऊँघते देख वह चुप सा हो गया। मेरे नेत्र खुल गये। उसने पुनः अपनी कथा आरम्भ की।

"मैं भी उस काँच-महल का बहुत दिनों तक अतिथि रहा। पुष्पबाणों के आघात से मेरा शरीर जर्जरित हो चुका है। परन्तु उस सुखप्रद-स्थान का परित्याग करते प्राण से निकलते थे। सहसा आज कुछ अवधूतों ने इसी पंचराहे पर सिंघी बजायी। मैं निकटवर्ती वाटिका में विश्राम कर रहा था। हृदय में यकायक एक बिजली सी दौड़ी और मैं झट उन अवधूतों की ओर झपटा। लग-भग सब अवधूत चले गये थे। केवल एक मेरे पैरों की खटक पाकर वहीं ठिठक कर खड़ा हो गया। मैंने धरा-

शायी होकर उसे प्रणाम किया। उसने मेरे मस्तक पर अपना कोमल कर सञ्चालन किया। तुरन्त ही पुष्प-बाण-जनित आघातों की पीड़ा शान्त सी हो गयी। वाटिका के सुरभित शीतल वायु के झोंके लू की भाँति शरीर पर लगने लगे। इतने में वाटिका का स्वामी भी निकट आ गया। इस समय उसकी आकृति में वह आकर्षण न था, न वह सौन्दर्य की आभा ही थी। उसने अवधूत को काँच-महल चलने का निमन्त्रण दिया। परन्तु इसने बड़ी रुखाई से उसे अस्वीकार कर दिया। युवक ने मुझे अपने साथ चलने का आदेश किया। उसकी इस उक्ति में यकायक उसके सौन्दर्य की झलक ने विद्युत्-छटा की भाँति पूर्व संस्कारों को एक क्षण के लिए पुनः प्रकाशित कर दिया। मैंने तुरन्त यह धारणा बना ली कि मैं इसी नवयुवक के साथ अपने जीवन का शेष भाग व्यतात करूँगा। इसी स्थिति पर अपना जीवन निर्वाह करूँगा।

"परन्तु अवधूत के नेत्रों में इतना प्रकाश और तेज था कि उसकी उपेक्षा मैं न कर सका था। मध्याह्न होने पर भी उसकी मुखाकृति पर अभी प्रातःकाल ही प्रतीत होता था। नेत्रों में सायंकाल की छटा थी। ऐसा अनुभव होता

था कि यह बलात् अपने नेत्रों से मुझे निष्क्रिय किये हुए है। उसकी उपेक्षा करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव था। उसने अपने शब्दों में मुझ से कहा, "क्या आप वास्तव में यहाँ निवास करना चाहते हैं ?" मुझे कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ और मैं झट अपने वास्तविक भावों को छिपाकर बोल उठा, 'कदापि नहीं।' उसने पुनः मुझसे कहा कि 'तुम इतने दिन इनके यहाँ रहे उसका तुमको कुछ देना पड़ेगा।' मैं घबड़ा गया। मैंने कहा स्वामिन्! मेरे पास कुछ भी नहीं है। अन्त में यह निश्चय हुआ कि दण्ड स्वरूप में ही एक उँगली काट दी जाय और मैं मुक्त कर दिया जाऊँ। अभी-अभी वह नवयुवक कटी उँगली लेकर तिरोहित हो गया है और वह अवधूत भी मरहम-पट्टी करके चल दिया है। मैंने उसके साथ चलने का बहुत आग्रह किया परन्तु उसने एक भी न सुनी। अब मैं तुम्हें देखकर इस स्थान पर आया हूँ।"

मैं इस यात्री का वृत्तान्त भली भाँति न सुन पाया। वह बड़े ही नम्र स्वर से सम्भाषण करता था और उसके स्वर में इतना माधुर्य्य था कि मुझे बीच-बीच में नींद आ जाती थी। हाँ, मुझे काँच-महल के सौन्दर्य की बात तथा उसके स्वामी के आकर्षण की बात बहुत अच्छी तरह

स्मरण थी। अन्त में यह भी सुना कि किसी ने इस पथिक की उंगली काट ली है। मुझे यह साहस न हुआ कि मैं पुनः इस यात्री से उस अपराधी का नाम पूछूँ। मैं अपनी अन्य-मनस्कता का परिचय देना उचित न समझता था। वह मुझे बड़ा अशिष्ट समझेगा, यदि कहीं उसे यह ज्ञात हो गया कि मैं उसकी बातों को ध्यानपूर्वक श्रवण नहीं कर रहा था। सम्भव है यह अपना अनादर अनुभव करे। वास्तव में उसका अनादर हुआ। मेरे हृदय में दूसरों के अनादर की भावना का जागृत होना बड़ा भारी पाप है।

निदान मैंने यही उचित समझा कि उससे कुछ न पूछूँ। उसकी कटी हुई उँगली को फिर देखकर मुझे अपने अपमान का स्मरण आ गया। मुझे यह भय हो गया कि कहीं वह मेरी कटी उँगली की कथा न पूछ बैठे। नाना प्रकार के विचार और कुतर्क उत्पन्न होने लगे। यात्री की उँगली के वृत्तान्त की आहुतियों ने प्रतिरोध की अवशेष भावना की अग्नि को जागृत कर दिया। मेरी उँगली में भी पीड़ा होने लगी। मैं ऊँचे स्वर से यात्री से कहने लगा।

"आपने अपना अपमान कैसे सहन किया ? उँगली

काटने वाले को दण्ड क्यों नहीं दिया ? क्या आपके हाथ निर्जीव हो गये थे ? क्या आत्म-गौरव की रक्षा का विचार आपके मन में उत्पन्न नहीं होता ? क्या अपनी मर्य्यादा की रक्षा में, प्राणों को निछावर करना आप निन्दनीय समझते हैं ? अथवा अपने गौरव की भावना ही आप में नहीं है ?"

उसने नम्रता से उत्तर दिया। "मेरे तो कोई मान ही नहीं, अपमान किसका होगा। मान, गौरव, मर्य्यादा तो बड़ों के होती है। मैं तो एक छोटा व्यक्ति हूँ। मेरा अपमान ही क्या हो सकता है। मुझे क्षमा कीजिए यदि मैं आप से कहूँ कि आप मिथ्या बड़प्पन के विचार का परित्याग कीजिए। अपमान की अग्नि आप के हृदय में कभी भी प्रज्वलित नहीं हो सकती यदि आप मिथ्या बड़प्पन की भावना को हृदय में अंकुरित न होने दें। आप अपने को छोटा ही समझिए। छोटेपन में महान सुख है और बड़ेपन में महान दुःख है। आप प्रकृति की ओर ध्यान दीजिए, छोटे-छोटे नक्षत्रों पर कभी भी ग्रहण नहीं लगते, जब कष्ट होता है तो सूर्य और चन्द्रमा को अभिमानी होने के कारण मृगराज बन-बन मारा-मारा घूमता है परन्तु नम्र होने के कारण बकरी को सभी लोग

प्यार करते हैं। सिर, मुँह, नाक, कान इन सभी अंगों का स्थान ऊँचा है परन्तु नीचे होने पर भी पूज्य केवल चरण ही हैं। स्थूल-मूर्ति कुञ्जर अपने ऊपर मिट्टी डाल डाल कर अपनी तृप्ति करता है, परन्तु छोटी होने के कारण चिउँटी अच्छे-अच्छे भाण्डों का रस आस्वादन करती है। सूर्य-मुखी के बड़े भारी पुष्प को कोई भी नहीं पूछता परन्तु छोटी सी जुही के पुष्प को मनुष्य हृदय के निकट रखता है। मदोन्मत्त हाथी के पैरों में लोहे की शृङ्खलाएँ डाली जाती हैं, परन्तु छोटी चिउँटी की कहीं रोक-टोक नहीं। छोटे होने के कारण द्वितीया का चन्द्रमा पूज्य है और प्रतिदिन उसकी वृद्धि भी होती है परन्तु पूर्ण चन्द्रमा प्रति दिन घटता जाता है और अन्त में अपना अपमान समझकर उसे दो दिन अपना मुँह छिपाना पड़ता है। छोटे बालक की कहीं रोक-टोक नहीं और वह रनिवास में भी प्रवेश पा जाता है, परन्तु बड़े मनुष्य द्वार पर ही रोक दिये जाते हैं। घर का नन्हा-सा दीपक सारे घर को प्रकाशित करता है, परन्तु बढ़ने पर अन्धकार कर देता है। हलका होने के कारण तृण जल में तैरता है, परन्तु भारी पत्थर सागर में सर्वदा के लिये विलीन हो जाता है। हे पथिक ! गरुएपने की मिथ्या लालसा परित्याग कीजिये।

हल्की रुई पर खड्ग का आघात भी कुछ नहीं कर सकता।"

यात्री के इस उपदेश को सुनकर चित्त बड़ा ही लज्जित हुआ। जिस कारण मुझे इतना कष्ट भोगना पड़ा वही मेरी पापपूर्ण भावना पुनः कैसे अङ्कुरित हुई? इस व्यक्ति को मैंने अपने बालिश्य का परिचय दिया। इस पथिक की ओर श्रद्धा उत्पन्न हुई। मानव-समाज कितना उदार है। न जाने मुझमें इस यात्री के प्रति कितनी भक्ति उत्पन्न हो गयी मेरा हृदय पिघल सा गया। सारे विश्वबन्धुत्व का प्रस्रोत अप्रतिहत वेग से मेरे हृदय में प्रवाहित होने लगा। मुझे साथ ही साथ ऐसा अनुभव होने लगा कि सारा संसार मुझसे अच्छा है। सारा संसार मुझे शिक्षा दे सकता है। मेरा यह कर्तव्य है कि सारे संसार के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करूँ। मैंने यह निश्चय कर लिया कि सारे संसार के प्रति प्रेम करना ही मेरे शेष जीवन का अन्तिम ध्येय रहेगा।

अकस्मात् कुछ पीड़ित मनुष्यों का आर्त्तनाद कर्णगोचर हुआ। यात्री ने जाने की इच्छा प्रकट की। मैंने भी नत-मस्तक होकर उसका अभिवादन किया। उसने भी मुझे प्रणाम किया। वह सीधे जाने वाले मार्ग में चला गया।

मैं बाँई ओर घूमा। इसी मार्ग से मैंने यात्री को आते देखा था। इसी ओर से चीत्कार भी आ रहा था—

मैं वेग से चलकर इन पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करना चाहता था। थोड़ी दूर चलकर मैंने एक सुन्दर वदन युवक देखा। मैंने सोचा कि सम्भवतः इसी की चर्चा यात्री करता था। काँच-महल में सम्भवतः यही निवास करता है। नीचे सहस्रों व्यक्ति घेरा बनाकर इस व्यक्ति के चारों ओर खड़े थे। उनके ऊपर यह पुष्प-वाणों का प्रहार कर रहा था। इन्हीं का चीत्कार दूर से मैंने सुना था। वास्तव में ये लोग हँस रहे थे। दूर से इनका हँसना करुण-क्रन्दन की भाँति प्रतीत होता था। ये वक्षस्थल निवस्त्र करके वाणों का स्वागत कर रहे थे। इनकी प्रसन्नता का अट्टहास पहले तो बड़ा कर्ण-कटु प्रतीत होने लगा। किन्तु शीघ्र ही कान इस स्वर के अभ्यस्त हो गये। इन व्यक्तियों को मैंने बड़े ध्यान से देखने की चेष्टा की। इनमें ढीले-ढाले पहजामे वाले मोटे मुचण्ड भारतवर्ष के पड़ोसी थे। चपटी नाक वाले, बौने शरीर के, नशे के झोंके में घूमने वाले चीनी भी उपस्थित थे। पूर्वीय ढाँचे पर पश्चिमी जामा पहने हुए जापानी भी इनमें उपस्थित थे। दक्षिणी और पूर्वीय ध्रुव के निवासी भी न्यून संख्या

में उपस्थित थे। योरप के प्रत्येक देश के निवासी नयी सजधज से वाणों का स्वागत कर रहे थे। फ्रान्स के लोग तो इस नवयुवक के चरणों को पकड़े थे। पातालपुरी के लोग भी यहाँ उपस्थित थे। ऐसा प्रतीत होता था कि ये पुष्प बाण वाले के विशेष चेलों में हैं। भारतीयों की संख्या भी थी।

यही नहीं इन व्यक्तियों के पहनावे से ऐसा प्रतीत होता था कि मानव-समाज के प्रत्येक कर्मक्षेत्र के कर्ता इनमें उपस्थित हैं। हाथ में लिए हुए स्टेटिस्कोप से मैंने बहुत से डाक्टर पहचान लिये और चन्द्रोदय की डिबिया देखकर मैंने बहुत से वैद्यों का भी परिचय पा लिया। सम्भाषण के अनोखे ढङ्ग से मैंने कई वकीलों को भी देख लिया। पुस्तक को हाथ में देखकर मुझे कुछ लोगों पर पाठक होने का भी सन्देह हुआ। साधू, वैरागी, अवधूत, फ़कीर, गृहस्थ, व्यापारी, श्रमजीवी इत्यादि सभी यहाँ उपस्थित थे। लम्बी-लम्बी पगड़ी धारण किए बड़े-बड़े धुरन्धर पण्डित अपना शास्त्रार्थ भूलकर इस रम्य स्थान का आनन्द ले रहे थे। बड़ी-बड़ी दाढ़ी वाले मुल्लाओं को भी निमाज का ध्यान भूल गया था। बड़े-बड़े जानु-विलम्बी वस्त्र धारण किए हुए ईसाई पादरी भी इनमें सम्मिलित थे। यदि इस स्थान पर भी मैंने किसी को

सजग देखा तो कवि को। यह रम्य उद्यान के आनन्दों को सबसे अधिक भोग करता हुआ भी अपनी टूटी पेंसिल से एक फटे पत्र पर कुछ लिखता जाता था। इस विलास में भी इसे अपने कार्य का स्मरण था, यह वास्तव में आश्चर्य की बात है।

निकट आकर मैंने और ध्यान से देखा कि स... प्रकार के मनुष्य इस रम्य उद्यान में विराजमान हैं। ज्यों ही उस नवयुवक ने मुझे देखा त्यों ही वह तुरन्त मेरी ओर बढ़ा। अभी तक किसी ने मुझे नहीं देखा था। अन्य सज्जन अपने आमोद-प्रमोद में इतने व्यस्त थे कि मेरी ओर देखने का उन्हें अवकाश कहाँ? जब यह सुन्दर नवयुवक मेरी ओर बढ़ा तो उनकी सारी सेना भी मेरी ओर आकृष्ट हुई। इन सबकी सुन्दर लचकदार चाल ने एक मनोरम विलव उत्पन्न कर दिया। परन्तु किसी ने इस वेग से झटका दिया कि नव-प्रसारित स्नेह-तन्तु अत्यन्त शिथिल हो गया। परन्तु मन-मानस में इनके रूप-लावण्य विलीन हो चुके थे। उन्हें पृथक् करना कोई सहज कार्य न था। झटके का प्रतिरोध हुआ। स्नेह की स्फूर्ति असाधारण वेग से सजग हो उठी। संलग्न-हृदय द्वारा प्रेरित मेरे तृषित नेत्रों ने विद्युत् के वेग से उन

रमण और रमणियों पर इतनी बार दृष्टि-विक्षेप किया कि शिथिल-प्राय स्नेह-तन्तु दृष्टिशूचिका के पुनः पुनः सञ्चालन से असंख्य तन्तुओं का शक्तिशाली प्रेम-पट बन गया। मैं तुरन्त हाथ फैलाकर उनकी ओर दौड़ा। हृदय में मानव समाज के प्रति प्रेम-प्रस्रोत तो पूर्व ही से उद्गमित हो चुका था शृङ्गार सम्राट की भेंट ने उसे अन-अवरुद्ध वेग से प्रवाहित कर दिया। उसने मेरा अपूर्व स्वागत किया। उसकी सहचरियाँ साथ थीं। मैंने शास्त्रों में अध्ययन कर रखा था कि स्त्रियों की ओर न देखना चाहिये। यह ज्ञान अब उदय हुआ। कदाचित् उसका कारण उस नायक की उपस्थिति थी। झट मैंने उनकी ओर से ध्यान हटा लिया परन्तु उसमें से एक ने बड़े मधुर स्वर से आसनासीन होने का आग्रह किया। मैंने दृष्टि नत किए हुए उनकी आज्ञा का पालन किया। वह सुन्दर व्यक्ति मुझको छोड़कर चला गया। मैं यह समझता था कि ये महिलाएँ भी शीघ्र ही चली जाँयगी और तब मैं अन्य यात्रियों से उनके दुःख-सुख की चर्चा करूँगा। मैंने दूसरों की ओर दृष्टि-विक्षेप करके देखा तो सब आगन्तुओं की अत्यधिक सेवा हो रही है। प्रत्येक व्यक्ति के पास महिला सेविकाएँ उपस्थित थीं। मुझे इस स्थान की विलक्षणता

पर हँसी आयी। मैं सोचने लगा कि क्या यहाँ के लोगों को अन्य महिलाओं से बात-चीत करते लज्जा नहीं आती। कुछ लोगों को तो मैंने अत्यन्त अव्यवस्थित देखा। अकस्मात् यह भी विचार आया कि सम्भव है ये महिलाएँ यात्रियों की प्रणाता भामिनियाँ हों। परन्तु जब मैंने देखा कि इन महिलाओं को पुरुष विशेष से कोई प्रयोजन नहीं तब तो मुझे इनपर सन्देह होने लगा। मैंने देखा कि सुन्दर भद्र पुरुष भी दो तीन रमणियों के साथ अशास्त्रीय व्यवस्था के साथ दूर खड़ा हुआ मनोरञ्जन कर रहे हैं। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सम्भव है इस स्थान की रीति ही यही हो। मैंने धर्म-शास्त्रों में भी पढ़ा था कि स्थान-स्थान और समय समय पर धर्म परिवर्तित हो सकता है। थोड़ी देर देखने के पश्चात् मैं यह विचार करने लगा कि ये महिलाएँ तो बहुत अच्छी हैं। धर्म-शास्त्रों में इनकी ओर देखना क्यों वर्ज्य है। धर्म की गति भी बड़ी सूक्ष्म है। कौन जाने क्या ठीक है?

इस प्रकार के विचार-सागर में मैं अल्पकाल के लिये निमग्न सा हो गया। चित्त में एक बड़ी भारी आकुलता उत्पन्न हुई। एकाएक यह विचार आया कि महिलाओं की ओर देखना पातक है। तुरन्त ही दूसरा विचार आया।

शीघ्र ही मानस सरोवर का यह भी विचार उत्प्लावित बुद-बुद की भाँति विलीन होगया और यही धारणा बल वती रही कि महिलाओं की ओर देखना पाप है।

विवेक का प्रादुर्भाव हुआ। भाँति-भाँति के विचार उठने लगे। पूर्व निश्चत सिद्धान्तों पर पुनः विचार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। यह कैसे सम्भव होगा कि इस स्थान पर मैं निवास करूँ और महिलाओं की ओर न देखूँ। अतएव यहाँ से चला जाना ही ठीक है। यहाँ रह कर इन बातों की रक्षा नहीं हो सकती। तुरन्त ही हृदय को शांति मिली। शीघ्र ही मेरी दृष्टि दो सुन्दरियों पर पड़ी। वे मुझ से कुछ दूरी पर एक राजहंस को मोती चुनाने के लिए हाथ में मुक्ता लेकर आमंत्रित कर रही थीं। हंस मुक्ता के समीप चञ्चु ले जाकर अनायास हटा लिया करता था, मानों मुक्ता के परिशीलन में उसे कुछ भ्रम-सा हो जाता था। इन रमणियों के ठीक ऊपर दो चकोर पक्षी मंडलाकार बाँध कर उड़ रहे थे। मैंने इन रमणियों को बहुत ही अच्छी तरह देखा। मुझे जाना तो था ही यह समझ कर और भी दत्तचित्त हो कर इनकी ओर देखा। उन्हें देखकर अनायास तुलसीदास जी की पंक्तियों का स्मरण आ गया।

जनु बिरंचि सब निज निपुणाई,

बिरचि विश्व कहँ प्रगट दिखाई।

साथ ही साथ यह विचार भी प्रादुर्भूत हुआ कि यदि अभी मैं चलने लगूँगा तो ये महिलाएँ मुझे देख लेंगी। अतएव इनके अदृष्ट होने के पश्चात् मैं चुपके से यहाँ से चला जाऊँग।

विचारों का संघर्षण पुनः आरम्भ हुआ। मैं सोचने लगा कि शास्त्रों में स्त्री की ओर देखना वर्ज्य क्यों कहा है। साथ ही यह भी विचार उत्पन्न हुआ कि विवाह करना तो सभी शास्त्रों में विहित है। विवाह-विधान से कौन ऐसा भारी परिवर्तन एक कन्या में हो जाता है जो हमें उसके साथ रहने में कोई पाप नहीं होता। विवाह के पहले उसकी ओर देखना वर्ज्य है परन्तु विवाह के पश्चात् उसी को हम अपनी स्त्री बना कर अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद करते हैं। जब हमें इन्द्रियों को वहिर्मुख होने से रोकना है तो मनुजी ने आठ प्रकार के विवाह लिख कर इन्द्रियों को वहिर्मुख होने का साधन क्यों उपस्थित किया? सन्त लोग तो एक स्वर से इन महिलाओं की बुराई करते हैं। कबीरदास जी कहते हैं—

चलो चलो सब कोई कहै, पहुँचे विरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥
कामिनि सुन्दर सर्पिणी, जो छेड़े तेहि खाय।
जो गुरु चरनन राचिया, तिनके निकट न जाय॥
छोटी-मोटी कामिनी, सब ही विष की वेलि।
बैरी मारे दाँव दे, ये मारैं हँसि खेलि॥

गुसांई तुलसीदास जी कहते हैं—

अमिय जारि गारेउ गरल, नारि करी कर्तार।
प्रेम बैर की जननि युग, जानहिं बुध न गँवार॥

धरनी दास जी कहते हैं—

दामिनि ऐसी कामिनी, फाँसी ऐसो दाम।
धरनी दृढ़ तें बाचिए, कृपा करै जो राम॥

दरिया साहब ने तो साफ़ साफ़ कह दिया है :—

जो जिव फंदे नारि से, सो नहिं बंस हमार।
बंस राखि नारी जो त्यागै, सो उतरै भव पार॥

पलटू साहब से अधिक कौन स्त्रियों से भयभीत हो सकता है। उनका कहना है—

मुए सिंह की खाल को, हस्ती देखि डराय।
असिउ बरस के बूढ़ि को, पलटू ना पतियाय॥

पलटू दास से मिलता-जुलता कबीरदास का भी एक पद है—

मब सोने की सुन्दरी, आवै वास-सुवास ।
जो जननी ह्वै आपनी, तऊ न बैठे पास ॥

सन्तों की ये उक्तियाँ समस्त महिला समाज पर हैं। अपनी पराई का कोई विवेक नहीं। एक सन्त ने तो स्पष्ट कह दिया है—

नारि पराई आपनी भोगै नरकै जाय,
छुरी पराई आपनी मारै से मरि जाय ॥

यदि ऐसी बात है तो विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः गीता में श्रीकृष्ण जी स्वीकार करते हैं—

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुखदाः"

सर्दी-गर्मी और सुख-दुख को देने वाला विषयों का संयोग है तो जन्म लेते ही मनुष्य के जीवन का अन्त क्यों न कर लेना चाहिये। विवाह कर के इन्द्रियों के सुख-दुख का साधन उपस्थित करना कहाँ की समझदारी है। विशेषनः जब स्वयं श्रीकृष्ण जी ही कहते हैं—

"यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।"

परन्तु विवाह करना यदि शास्त्र-विहित न होता तो पुत्र-उत्पादन इतना आवश्यक क्यों बतलाया जाता और यह क्यों कहा जाता कि "एष वा पुत्री सोऽनृणी" और पुत्र की व्याख्या इस प्रकार क्यों होती—"पुन्नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः"।

इस प्रकार की बातों से प्रतीत होता है कि शास्त्र स्वयं परस्पर विरोधी हैं। शास्त्रों के प्रतिकूल कुछ कहना पाप बतलाया गया है। परन्तु तर्क-शास्त्र बतलाता है कि किसी भी बात को प्रमाण स्वरूप मान लेना, चाहे वह किसी पुस्तक में हो, अपने को धोखा देना है। वास्तव में मैंने कभी भी इस ओर ध्यान नहीं दिया था। धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। यदि इन्द्रियों के बहिर्मुख होने के भय से हम आत्म हत्या कर लें तो भी आत्म हत्या का पातक लगेगा। महान अँधेरे नरक म वास करना पड़ेगा। वासनेय संहितोपनिषत् में मैंने पढ़ा है—

असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनी जनाः।

कवि सम्राट् शेक्सपियर ने हैमलेट नामक नाटक में लिखा है—

"But that the dread of something af-

ter death, the undiscovered country **from** whose tour no traveller returns, **puzzles** the will and makes us rather **bear** thosc ills we have, than fly to oth- **ers** that we know not of ?"

यदि आत्महत्या करके इन्द्रियों को वहिर्मुख होने से बचाना भी निन्दनीय है तो फिर अन्य कौन उपाय अपनी रक्षा का है। वास्तव में हमें अपनी आत्मा का विकास करना है। उसी के लिये जन्म मिलता है। यदि हम आत्म-हत्या कर लेंगे तो हमें पुनः जन्म लेना पड़ेगा इस दृष्टि से भी आत्म-हत्या करना सम्भवतः उपयुक्त नहीं।

ऐसी स्थिति में अमुक काम करना चाहिए अथवा नहीं इसकी व्यवस्था कौन दे। शास्त्रों में विचारान्तरों का निराकरण कौन करे। अब समक्ष प्रश्न यह है कि इन महिलाओं के प्रति मेरा व्यवहार कैसा हो। देखने का प्रश्न तो दूर हो गया। यह पातक तो मैं कर ही चुका। विचारना यह है कि यह स्थान मेरे रहने योग्य है अथवा नहीं। इस प्रकार के धार्मिक प्रश्न जब हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं तो हमारा क्या कर्त्तव्य होना चाहिये इसे भी विचार करना है। पूर्वकाल में धर्म के जटिल प्रश्न कैसे

हल किये गये हैं ? यह भी देखना है कि धर्म के सिद्धान्त ध्रुव सत्य हैं अथवा इनमें भी कुछ अपवाद है। यदि अपवाद है तो वह कहाँ लागू होता है और उस अपवाद की यथार्थता का निर्णायक कौन होता है।

इतने में उस स्थल के शृङ्गार सम्राट् ने आकर मेरी चिन्तना को भंग कर दिया। इस नवयुवक की चाल में मैंने अनोखी बात देखी। जिस स्थान पर वह चलता था उस स्थान की घास हरित होती जाती थी। जिधर वह दृष्टि-विक्षेप करता था मानो उस ओर की सुन्दरता चौगुनी हो जाती थी। वृक्षों पर ललित पल्लव चलायमान हो जाते थे। वायु की अनुपस्थिति में भी वृक्ष की डालियाँ परस्पर सङ्घर्षण करने लगती थीं। जिन जलाशयों की ओर वह देखता था उनका जल भी उथल-पुथल होने लगता था। ऊपर देखते ही जलरिक्त- जलदसमूह भी इतनी वेग से सङ्घर्षण करते थे कि उनका भयावह शब्द कर्ण-विवरों को जर्जरित कर देता था।

उसके साथ चलने वाली सुन्दरी की चाल में लज्जा और गुरुता का सामञ्जस्य था। उसके पीछे पीछे हंस-युगल इस प्रकार पैर मिलाकर चल रहे थे कि मानो उसकी सुन्दर चाल का अनुकरण करना चाहते हैं। नवयुवक

आगे बढ़ गया। इस नत-आनना के साथ मैं कुछ पीछे रह गया। हम दोनों के कुछ ठिठक जाने पर इस महिला ने दो मोती हंसों को चुगाने के लिये निकाले। परन्तु इनका रङ्ग विचित्र था। नीचे का रङ्ग तो बिलकुल रक्त-वर्ण था परन्तु ऊपर का रङ्ग कृष्ण था। निकट आकर देखने से और भी एक नयी बात प्रतीत हुई। ऊपर का कृष्ण रङ्ग अस्थिर था। मैंने उससे मोती अपने हाथों में माँगे। उसने बहुत धीरे से उन्हें मेरी हथेली पर रख दिया। किन्तु मेरे हाथ में लेते ही ये स्फटिक मणि की भाँति स्वच्छ हो गये। यह रहस्य मेरे ध्यान में न आया। मैंने फिर उसके हाथों में उन्हें देकर अपनी उद्वेगाग्नि शान्त की। उनका रङ्ग पुनः परिवर्तित हो गया।

निर्जन स्थान पर होने पर भी मुझे इस महिला से अधिक सम्भाषण करने का साहस न हुआ। शीघ्र ही सन्ध्या हो गयी। सूर्य भगवान की लोहित रश्मियों ने पृथ्वी से अपना आधिपत्य हटाकर वृक्षों के शिखरों पर स्थापित किया। दैनिक पर्य्यटन से प्रत्यागत विहङ्गमों ने भी विदा के लिये प्रस्तुत दिवाकर भगवान की अभ्यर्थना के लिए अपनी कलकल ध्वनि से नीड़-स्थित अपने शावकों को आमंत्रित किया। उन्होंने भी अर्द्ध-स्फुटित स्वर से उत्तर

देते हुए अपनी स्थिति नीड़-द्वार पर सूचित कर दी। पुरस्कार स्वरूप उनकी चञ्चुपुट में अर्द्धचर्वित-कृमि दे दिया गया। शनैः शनैः पक्षी गण भी कोटरस्थ हो गये। कुछ वृक्ष के ऊपर ही रहे। रात्रि-चारी पक्षि-समूह विचरने लगा। निकट ही शृगाल कदम्बकों का सामूहिक हूहाकार भी सुनाई पड़ने लगा। चन्द्रमा का प्रकाश शनैः शनैः अधिक स्पष्ट हो चला। थोड़े ही काल में सारा उपवन धवलित हो गया। हंस-युगल भी निकटवर्ती निवास-स्थान पर चला गया। पुनः यह विचार आने लगा कि एक महिला के साथ किसी निर्जन स्थान पर बैठना ठीक नहीं है। परन्तु विचार में कार्य करने की शक्ति न थी। फिर भी मैं चल दिया। मेरे दरिद्र नेत्रों ने उसके अक्षुण्य सौन्दर्य भंडार को भली भाँति चुराया। यह सब कुछ उस समय हुआ, जब रात्रि में चाँदनी थी। निशाकर भगवान मेरे सहायक थे। पहिले तो मैंने तुलसीदास जी का उपहास मन ही मन किया। उन्होंने यह कैसे कहा कि—

चोरहिं चाँदनि राति न भायी"

फिर Shakespeare स्मरणआया। वास्तव में वह तत्वदर्शी था। Beauty provoketh thief 'sooner than wealth' उसकी बड़ी सूझ है। परन्तु यह

चोरी भी विलक्षण है। इस सौन्दर्य-भण्डार की नेत्रों ने जितनी बार चोरी की उतनी ही बार पहले की अपेक्षा उसमें अधिक भण्डार पाया। सरस्वती के भंडार की ही अभी तक मैंने यह बात सुनी थी। आज इस सौन्दर्य-भण्डार से नवीन सिद्धान्त का परिशोध हुआ।

नेत्र पक्के चोर हो गये थे। अब वे मेरी इच्छा के बिना ही झट उस ओर पहुंच जाते थे। शास्त्रों ने कभी ऐसी रमणी की ओर न देखने को नहीं कहा होगा और यदि कहा भी हो तो उनका बकवाद है। वेदाभ्यास से जड़ मति-वाले, विषय कौतूहल से अनभिज्ञ ऋषियों ने ही तो शास्त्रों का निर्माण किया है। उन्हें ऐसी सुन्दर साध्वी महिला की कल्पना भी विचारातीत होगी। फिर महिलाओं के प्रति उनका विचार कैसे आर्द्र हो सकता है। और, एक बात यह भी तो है कि सब शास्त्रों को पुरुषों ने रचा है। यदि महिलाओं का कहीं उन में हाथ होता तो यह पक्षपात सम्भव न था।

मैं इस विचार में मग्न था कि हम दोनों के मार्ग में एकाएक वृक्ष के ऊपर से एक पक्षि-शावक स्वर करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा। उस बाला ने झट उसे उठा लिया।

अपने अञ्चल से उसका मुँह पोछा। उसके अञ्चल में रक्त-चिह्न लग गये। मैंने उसको ध्यान से देखा। ऐसा प्रतीत आ मानो किसी आक्रान्तकारी निशाचर-पक्षी ने पक्षि कोटर में जाकर इस को भक्षण करने की चेष्टा की थी। बलवान होने के कारण इसका एकाएक वह कुछ न कर सका। प्राण-रक्षा के युद्ध में स्खलित-स्थान यह पक्षी अनायास पृथ्वी पर पतित हो गया। शत्रु के चञ्चु प्रहारों के आघातों से रक्त का स्राव अब भी हो रहा था और वह क्षतों की पीड़ा से व्याकुल होकर बार-बार अपनी चञ्चु फैला दिया करता था। मैंने उस सुन्दरी के कर-कमलों से इस पक्षिशावक को अपने कर-वस्त्र में रख लिया। मुझे यह प्रतीत होने लगा कि इसके मुँह में यदि शीतल जल न डाला जायगा तो यह शीघ्र ही शरीर त्याग देगा। इस विचार से मैंने उस महिला से नम्रता के साथ कहा, "आप महल को चलिये मैं इसके मुँह में थोड़ा सा जल इस निकटवर्ती प्रस्रोत से डालकर इसे इसके कोटर में पहुँचाने की व्यवस्था करूँगा। शीघ्र ही मैं भी आता हूँ।" वह चली गई।

मैं जलाशय के निकट गया। अञ्जली में जल भर कर मैंने उसकी चोंच में डालना चाहा। परन्तु

मेरे कई बार प्रयास करने पर भी इसने अपना मुँह न खोला। मुझे शीघ्र ही इसका रहस्य ज्ञात हो गया। यह मर चुका था। इसको बलात् जल पिलाने की चेष्टा करनी मूर्खता थी। मैंने इसे पृथ्वी पर डाल दिया; मानो इसका मूल्य समाप्त हो चुका था। इसका जीवन-प्रकाश निकट वाले जुगुनू समूह में मिल गया था। इसकी अचानक मृत्यु से मुझे कोई शोक न हुआ। मैं घर लौटने की बात सोचने लगा। परन्तु फिर यह विचार प्रस्फुटित हुआ कि यदि मैं इसी समय प्रस्थान कर दूँगा तो वह रमणी मार्ग में मुझे मिल जायगी और इस पक्षी का वृत्तान्त पूछने लगेगी। अतएव मैंने उचित समझा कि निकटवर्ती उन्नत शिला-खण्ड पर ही बैठकर थोड़ी देर विश्राम करूँ।

शिला पर बैठकर मुझे पुनः किसी का ध्यान आने लगा। मैंने सोचा कि उसने पक्षि-शावक को पतित देखकर उसे झट उठा लिया। उसने यह भी चिन्ता न की कि अञ्चल पर रखने से उसका कोना धूलि-धूसरित और रक्त-लोहित हो जायगा। जिसकी प्रकृति पशु-पक्षियों के प्रति ऐसी आर्द्र है वह भला मानव-समाज की कितनी हितकांक्षिणी होगी। स्त्रियाँ स्निग्ध-हृदया होती हैं इसी से तो भगवान्

ने उन्हें भी कोमल बनाया है। न जाने कितने प्रकार से कवियों ने इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की प्रशंसा की है। हम अभी मूर्ख थे! जो हमने इनकी ओर देखना भी पाप समझ रखा था। यह ठीक ही कहा है कि प्रत्येक समय किसी व्यक्ति के ज्ञान-चक्षु खुले नहीं रहते। शास्त्रकारों पर ही एकमात्र निर्भर रहना अपने ज्ञान का दिवालियापना घोषित करना है। शास्त्रों पर तो आँखें बन्द करके कभी विश्वास ही न करना चाहिए अन्यथा ये हमारी बुद्धि को भ्रान्ति के वात्ताचक्र में डालकर आकाश के बादलों की भाँति कभी विश्राम न लेने देंगे। अब तो मुझे यह भी सन्देह होने लगा है कि जो हम लोग अपने धर्म-शास्त्रों का इतना डङ्का पीटा करते हैं वास्तव में क्या वे इतनी कीर्ति के अधिकारी हैं। स्त्रियों ही के सम्बन्ध में नहीं, अन्य विषयों पर भी इनके वचन इतने लचर और परस्पर विरोधी हैं कि मुझे तो इन पर अब कोई श्रद्धा नहीं रही। मांस-भक्षण के सम्बन्ध में मनु जी लिखते हैं—

पितृ देवतातिथि पूजायां पशुं हिंस्यात्
मधुपर्के च यज्ञे च पितृ दैवत कर्म्मणि
अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यत्रे त्य ब्रवीन्मनुः।

यदि पितृ देव तथा अतिथि के निमित पशु का व करके उन्हें मांस से सत्कार करना शास्त्र विहित है तो प्रतिदिन पशु-बध करके मांस का भक्षण करना क्यों बुरा है? अन्यत्र स्वयं मनु ने ही मांस खाने के प्रतिकूल क्यों कहा? मधुपर्क, यज्ञ, पितृ और देव कर्म ऐसे पवित्र अवसरों पर यदि पशु-वध निन्द्य नहीं है तो अन्य दिवसों पर क्यों निन्द्य है? पवित्र दिवसों पर यदि एक विधान विहित है तो अन्य दिवसों पर वही अविहित क्यों निश्चित किया गया है?

धर्म-शास्त्रों में हमारे यहाँ सब से उत्तम पुस्तक मनु-स्मृति ही समझी जाती है, यह सब लोगों को प्रायः मान्य है। इस पुस्तक का यह हाल है तो अन्य ग्रन्थों की बात ही क्या है। जिस स्थान पर मनु जी ने मानव-समाज के कार्य निर्धारित करते हुए नीति-धर्म बतलाये हैं, वहाँ लिखा है—"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रह:" यही प्रमुख पाँच आज्ञाएँ हैं। यदि हम ध्यान से इन नियमों का अनुशीलन करें तो हमें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि प्रत्येक आज्ञा में खोखलापन है। और प्रत्येक नियम के प्रतिकूल स्वयं मनु जी ने ही अन्यत्र व्यवस्था दी है। और बड़े बड़े लोगों ने इनका उल्लङ्घन किया है

और फिर भी वे सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। सब धर्म इन सिद्धान्तों की दुहाई देते हैं और सभी धर्म्मावलम्बी इनके प्रतिकूल काम करते हैं। क्या परस्पर युद्ध करके प्राण-हरण करना हत्या नहीं ? यदि है तो संसार के महान् पुरुषों ने क्यों इतने युद्ध किये ? कौन ऐसा धर्म है जिसके अनुयायियों ने दूसरों का रक्त-पात नहीं किया ? क्या यही अहिंसा है ? शास्त्रों में तो यहाँ तक लिखा है कि प्राणी को किसी प्रकार का मन वचन कर्म से दुःख देना हिंसा है। यदि यह सम्भव नहीं तो हम 'अहिंसा परमोधर्मः' का ढोल क्यों पीटते हैं ? स्वयं मनु जी क्या नहीं कहते—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।

क्या आततायी के प्राण नहीं होते ? यदि होते हैं तो यह कहाँ का न्याय है कि उसके घातक को हम पातकी न समझें ? यही न कि हम अपने प्राण को दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं ? यही हमारा स्वार्थ-त्याग है ? अपने प्राणों के लिए गुरु हो चाहे पाँच वर्ष का बालक हो अथवा अस्सी वर्ष का बूढ़ा हो, चाहे ब्राह्मण हो, चाहे नाई हो, सभी

को इस मंत्र की आड़ में स्वार्थ के अग्नि-कुण्ड में आहुति दे दें। मनु जी से कोई प्रश्न करे कि यदि किसी गुरु (यह शब्द ऐसा व्यापक है कि माता-पिता भी इसमें सम्मिलित कर लिये जाते हैं।) के मस्तिष्क में अचानक विकार आ जाय और वह शिष्य की ओर लकुट हस्त हो दौड़े और यदि शिष्य को यह भ्रम हो जाय कि गुरु के लकुट-प्रहार से उसका प्राण चला जायगा तो क्या वह गुरु की सारी पुरानी कृपा का विस्मरण करके तुरन्त उस वृद्ध का प्राणापहरण कर लें?

कोई अहिंसा के प्रतिपादक शास्त्रकारों से स्वयं पूछे कि क्या वे कभी जल ग्रहण नहीं करते थे? क्या उनने जल-पान में अथवा श्वास में कोई कीड़े न गये होंगे? फिर कैसे वे दूसरों को अहिंसा का पाठ देते हैं? क्या महाभारत धर्म-ग्रन्थ नहीं, फिर अनुशासन पर्व में आखेट करना क्यों न्याय सङ्गत कहा गया है? वन पर्व में एक ब्राह्मण को धर्म की दीक्षा के लिये एक व्याधा के पास क्यों जाना पड़ा था? यदि अहिंसा का ही पालन हो तो प्रजा की रक्षा कौन करेगा? अहिंसा के वर्तमान कालीन सर्व श्रेष्ठ पोषक महात्मा गांधी को भी कुत्तों की हत्या करने की व्यवस्था देनी पड़ी। ऐसी दशा में मनु जी का

अहिंसा-धर्म केवल काग़ज़ी धर्म नहीं तो और क्या है ?

अच्छा अब अहिंसा को छोड़कर सत्य की व्याख्या का प्रश्न लीजिये। सत्य के इतने गीत गाये गये हैं कि सत्य और भगवान में कोई भेद नहीं रह जाता। सत्य को पञ्च-तत्वों का प्रसवकारक कहा है। वह अनित्य है।

अश्वेमेध सहस्रंच सत्यं च तुलयाधृतम्।

अश्वेमेध सहस्राद्धिसत्यमेव विशिष्यते ॥

(अ० १४-१०२)

मनु जी की आज्ञा है—

"सत्य पूता, वदेद्वांचं"

परन्तु सत्य होते हुए क्या यदि हम अन्धे को अन्धा कहेंगे तो वह अशिष्टता नहीं है ? यदि किसी स्थान पर चोरों की आशङ्का से कुछ धनी जा छिपे हों और तुम उस स्थान को जानते हो, तो क्या तुम चोरों के पूछने से उसका पता बतला दोगे ? यह भी तुम जानते ही हो कि उनका रहस्य उद्घाटन हो जाने पर वे मार डाले जायँगे। क्या ऐसी अवस्था में सत्य बोलना हिंसा न हुआ ? मनु कहते हैं कि ऐसी अवस्था में मौन हो जाय। क्या मौन हो जाना यह घोषित नहीं करता कि हम कायर हैं ? यदि किसी स्थान

पर मेरे किसी परिचित व्यक्ति के चरित्र पर वृथा और झूठे आक्षेप मेरे समक्ष हो रहे हों और मैं चुपके श्रवण करता रहूँ तो क्या यह झूठ बोलने से भी अधिक न हुआ ?

परन्तु महाभारत में तो ऐसी अवस्था में भीष्म ने युधिष्ठिर से झूठ बोल देने की आज्ञा दी है—

'श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्'

ऐसी अवस्था में मनु जी का सत्य कहाँ चला गया ? शान्ति पर्व में तो मनु जी का सिद्धान्त की लज्जा रखने के लिए यहाँ तक कह दिया है कि जिस सत्य में सभी की हानि हो वह न तो सत्य है और न अहिंसा ही।"

शुक जी का सत्य तो कुछ और ही विलक्षण है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्

यद् भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम् ॥

युधिष्ठिर के 'नरोवा कुञ्जरो वा' कहकर झूठ बोलने से तो सारे लोगों का कल्याण हुआ परन्तु उनको इसका दुःख क्यों भोगना पड़ा ? उनकी उँगली क्यों गलने लगी ?

मनु जी ने लिखा है कि झूठ गवाही देने वाला पितरों के सहित नरक जाता है। परन्तु कर्ण पर्व में चार चोरों के दृष्टान्त में निरपराधी लोगों के प्राणापहरण की आशङ्का

में असत्य गवाही देना भी न्याय-सङ्गत बतलाया गया है।

ईसाई धर्म में कहा है कि यदि मेरे असत्य से भगवान की महिमा अधिक बढ़ती है तो मैं पापी क्योंकर हो सकता हूँ।

महाभारत तो और आगे बढ़ गया है और उसमें कई स्थान ऐसे गये हैं जहाँ झूठ बोलना पाप नहीं।

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन्न विवाह काले
प्राणात्यये सर्व धनापहारे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।

इसी प्रकार की आपत्तियाँ मनु जी के तृतीय आदेश स्तेय के सम्बन्ध में है। यह कौन नहीं जानता कि यदि विश्वामित्र मनु जी की भाँति मूर्खता से काम लेते तो सम्भवतः उन्हें अपने प्राणों की रक्षा का कोई उपाय ही न था। मनु जी लाख लिखते रहें कि "पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः" परन्तु विश्वामित्र ने इस आदेश की तनिक भी परवाह न की। उन्होंने मूढ़-चाण्डाल की इतनी भर्त्सना की कि वह भी समझ गया होगा—

पिबन्त्येवोदकं गावो मंडूकेषु रूवत्स्वपि ?

न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः ।

भला ऋषि जी के रक्त-वर्ण वाले नेत्रों का सामना एक चाण्डाल किस प्रकार कर सकता था ।

जब विश्वामित्र ऐसे ब्रह्मर्षि स्तेय कर्म को दूषित नहीं समझते तो मनु जी के लिखने से क्या हो जायगा ? यह सब धर्म शास्त्र रचने वालों के ढकोसले हैं । एक आदेश स्वयं लिखते हैं और स्वयं उसी के विपरीत आचरण करते हैं । हमें यह आदेश दिया जाता है कि धर्म का मार्ग निर्णय करने में बुद्धि से काम लो । जिस स्थान पर बुद्धि काम न दे वहाँ पर श्रेष्ठ जनों का मार्ग अनुसरण करो । इस बात पर भी अनेक शङ्काएँ होती हैं । कौन ऐसा आदर्श व्यक्ति है जिसका अनुसरण किया जाय । कवि-सम्राट् भवभूति ने बड़े व्यक्तियों का अच्छा चित्र चित्रित किया है जब उन्होंने स्पष्ट यह कह दिया कि "वृद्धास्ते न विचारणीय चरिताः" विष्णु ने पुरन्दर की स्त्री का सतीत्व बिगाड़ा । ब्रह्मा की किम्बदन्ती प्रचलित ही है । शिव जी ने रति के पति को ही अकारण भस्म कर दिया । इन्द्र की लम्पट किम्बदन्तियों से हमारे सारे पुराण भरे पड़े हैं । श्रीकृष्ण जी ने कौरव पाण्डवों को नष्ट करा

दिया। रामचन्द्र जी ने बालि को पेड़ की आड़ में छिप कर छल से वध किया। अब किसका अनुकरण किया जाय? यदि यह कहा जाय कि मनुष्य को अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए, इन महान व्यक्तियों की सुन्दर कृतियों को अनुसरण करना चाहिए और अन्य निन्दनीय कृतियों की उपेक्षा करनी चाहिए, तो इस बात में भी यही कठिनता उपस्थित होती है कि अच्छे और बुरे कामों की कसौटी क्या है? यदि बुद्धि ही कसौटी है तो प्रमाण हमारे निकट है कि बुद्धि हमें उसी मार्ग पर ले जा रही है जो शास्त्रीय मत का अपवाद है। यदि वास्तव में सन्देह पद पर व्यक्तियों का प्रमाण अन्तःकरण ही होता है तो शास्त्रों की क्या आवश्यकता। और क्या प्रमाण है कि अन्तःकरण सर्वदा उपयुक्त ही परामर्श देता है? यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि सब व्यक्तियों से अन्तःकरण विकसित और प्रस्फुटित नहीं होतो। बड़े नियंत्रण और जागरूकता से आत्मा आदेश देने के योग्य बलवती होती है। हमारी आत्मा का विकास बहुत कुछ हमारे वातावरण से निर्मित होता है। वातावरण स्थान, समय और परस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होता है। फिर हमारे आत्मा का विकास एक भाँति कैसे हो सकता है। एक जङ्गली साधु और एक

सुन्दर राजयुवक के आत्म-विकास में आकाश-पाताल का अन्तर होगा।

यदि यह बात ठीक है तो सब की आत्मा एक निष्कर्ष पर कदापि नहीं पहुँच सकती। ऐसी अवस्था में यह आशा करना कि आत्मा जो आदेश उसे करे और वही सच्चा मार्ग है, भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि परस्थितियों का अनुशीलन करके जो मुझे सूझेगा, करूँगा। अब अधिक शास्त्रों के झमेले में पड़कर अपना मनुष्यत्व नष्ट न करूँगा। यह इतना सुन्दर और रम्य स्थान है, यहाँ के निवासी इतने भले हैं कि इनकी उपेक्षा करना पाप है। मुझे यहाँ की सुन्दरी से अवश्य वार्तालाप करना चाहिए, हँसना चाहिए, उसकी ओर देखना चाहिए; यह कोई पाप नहीं। और फिर ज़ब तक अपने को रोम में रहना है तब तक रोमनों की भाँति ही आचरण करना चाहिए। यह कोई पाप का स्थान नहीं। पाप जिस स्थान पर होते हैं वह इतना रम्य हो ही नहीं सकता। पद्म-पुराण में लिखा है कि दण्डक वन इस लिए निर्जन हो गया था कि उसमें शुक्र की कन्या का सतीत्व नष्ट किया गया

था। यदि यहाँ भी कोई ऐसी बात होती तो यह स्थान ऐसा रम्य कैसे बना रहता ?

फिर यहाँ का स्वामी और यह सुन्दरी दोनों इतने सुन्दर हैं कि इनके ऊपर पापी होने का संदेह करना पाप का आमन्त्रण करना है। कवि-सम्राट् कालिदास ने कहा है—

"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति"

अतएव इस स्थान का आतिथ्य निस्सङ्कोच ग्रहण करना चाहिए।

इतने विलम्ब तक विचार करने से मुझे समय का ज्ञान बिलकुल न रहा था। विचार-तन्तु के भङ्ग होने के पश्चात् मुझे अनायास यह ध्यान हो आया कि इस स्थान पर ठहरे हुए मुझे अत्यन्त विलम्ब हो गया है। मैं उठ खड़ा हुआ। पीछे घूमकर मैंने देखा कि वही सुन्दरी थोड़े स्थान के अन्तर से मेरी ओर निर्निमेष खड़े देख रही है। मैंने तुरन्त उससे पूछा कि आपको कितना विलम्ब हो गया ? "मैं यह समझी थी की आप ध्यानावस्थित हैं। सम्भवत: देवार्चना कर रहे हैं। आप के निकट जाने से आपकी समाधि भङ्ग हो जाने की आशङ्का थी।

अतएव मैंने यही उचित समझा कि इसी स्थान पर स्थित हो कर आप की प्रतीक्षा करूँ। परन्तु आपने तो बहुत विलम्ब लगा दिया।" मैंने लज्जानत आनन से उसके देर तक खड़े रहने के कारण कष्ट की क्षमा-याचना की। उसने कहा 'महल चलिए, भोजन प्रस्तुत है। विलंब हो रहा है। आप श्रांत हैं।

हम दोनों ने प्रस्थान किया। मन ने मानव समाज के प्रति प्रेम का व्यापार करना तो पहले ही निश्चय कर लिया था। शास्त्रों के आदेशों ने परस्पर झगड़ने वाले दलालों की भाँति सौदा रोक रखा था। बुद्धि ने दलालों की भीड़ हटा दी। फिर मन को सौदा करने में क्या विलंब था ? झट हृदय का मोलतोल होन लगा। नेत्रों को नये दलाल बनाकर सौदे का विवरण लेकर भेजा गया। वे खरीदार के दलालों से मिले। उसे माल पहले ही से पसन्द था। झट सौदा निश्चय हो गया।

रमणी ने कहा स्वामी भोजनों के हेतु आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। स्वामिनी ने मुझे आदेश दिया था कि आपको शीघ्री ही भोजनों के लिए आमंत्रित करूँ, अन्यथा उनके स्वामी को शयन करने में विलम्ब हो

जायगा। मैं उसके साथ तुरन्त चल दिया। महल पहुँच कर एक कुरसी पर बैठने का आदेश दिया। मैं शान्ति से बैठ गया। चारों ओर भोजनों के लिए लोग उपस्थित थे। मानो मेरा ही विलम्ब था। मेरे सम्मुख भी भोजन परोसा गया। प्रत्येक यात्री के निकट एक एक सुन्दरी उपस्थित थी। सुन्दर नवयुवक भी अपनी रमणी के साथ मध्य में स्थित था। रमणी क्या थी, संसार के सौन्दर्य का समुच्चय थी। मेरे तो नेत्र भी उसके निकट तक न पहुँचते थे। उसके मुख का प्रकाश ऐसा कठोर द्वारपालक था कि नेत्र उसके निकट तक पहुँचने में असमर्थ थे।

मेरा चित्त विह्वल होकर विचार करने लगा कि ऐसा सौन्दर्य तो संसार में दृष्टिगोचर ही नहीं हुआ। किससे इसका पटतर दिया जाय। हाँ, यदि ब्रह्मा अपने विचार-मन्दिर में अखिल विश्व का सौन्दर्य और लावण्य समुच्चय कर एक बालिका की काल्पनिक सृष्टि करें और पुनः उसी विचार निर्मित प्रतिमा में जीव सञ्चार करें। शिव जी तृतीय नेत्र का उद्घाटन करके सुमेरु को द्रवीभूत करें और दैवी मिलिन्दों द्वारा विश्व का मकरन्द और पराग एकत्रित करके द्रवीभूत सुमेरू के साथ मिश्रित किया

जाय। इस प्रकार जो अर्गजा प्रस्तुत हो। उसे पुर्णेन्दु की ज्योत्स्ना की त्वचा वाली उस बालिका के विग्रह पर सूर्य रश्मियों द्वारा मर्दन किया जाय। प्रलय दिवस की बड़वानल से उत्तपित, प्रलय-सूर्य की दीधितियों से जलीभूत, प्रलय करने के इच्छुक। भगवान भूतनाथ द्वारा वमन किया हुआ अत्यन्त कृष्ण विषहर के सूक्ष्म-तन्तुओं के निर्मित उसके केश हों। स्वयं इन्द्र बिम्बाफलों की रक्तिमा चुराकर उसके ओष्ठ और अधर को लालिमा प्रदान करें। राहु अपना शस्त्र लेकर सन्ध्या कालीन सूर्य से अरुणता का अपहरण करे और उसका लेप स्वयं शारदा अपनी प्रेरणा शक्ति से उसके कर पल्लवों पर करें। परिपूर्ण कलावान निशिनाथ का कलङ्क बड़ी चतुरता से देव-शिल्पि विश्वकर्मा पृथक् करें और उष्णता का पूर्ण बहिष्कार करने की दृष्टि से हिमाच्छादित हिम शृङ्ग के अत्यन्त गहन गर्त में भगवान् दिवाकर को अनेक युगों तक निवास कराकर उनका भाग छिन्न करके चन्द्र कलङ्क के रिक्त स्थान की पूर्ति की जाय। इस प्रकार निर्मित रजनीपति यदि उस बाला का मुख हो। विभावरी के अलङ्कार भूत, अत्यन्त प्रकाश वाले तारागण उसकी दन्तावलि हों। नासिका में करील किसलय के प्रसार की

न्यूनाधिकता और स्निग्धता हो। बासुकी के नेत्रों का शत भाग उसके नेत्रों के तिलों का कार्य करें। स्वच्छ गुलाब पुष्प की भाँति धवलित पत्र पर, शतह्रद के वेग से सञ्चलन करने वाला विच्छिन्न विग्रह, अस्थिर भ्रमर स्थापित करके संसार की स्निग्धता के लेप द्वारा उसके नेत्र-निर्माण किये गये हों। सुन्दर शङ्ख की आकृति वाले वसन्त किसलय की भाँति स्निग्ध और लोहित उसके कर्ण हों। ग्रीवा सुग्रीव से भी सुन्दरतर हो,-कटि में सर्प-गति की लोच हो। युगल जंघाओं में वक्षस्थल की गुरुता को संवाहन करने की क्षमता हो। पाद-सौन्दर्य में अपने नेत्रों को सर्वदा आकृष्ट रखने की कान्ति हो। करों और चरणों में द्वितीया के कलाधर उपस्थित हों। सृष्टि की ऐसी सुन्दर कृति का यदि विष्णु सम्वर्धन करें, कामदेव पुष्पबाण से रक्षा करें, तथा रति और लक्ष्मी शृङ्गार करें; तो सम्भव है कि वह इस स्वामिनी की अञ्चल-वाहिका हो सके।

एक सुन्दर वर्तन में जल था। यह जल बड़ा सुगन्धित था। परन्तु उसका रङ्ग विलक्षण था। मैंने उसे अपने होठों से लगाया। मालूम होने लगा कि मुझे यह तनिक भी रुचि-कर न होगा। परन्तु यह भय था कि मेरे अन्य साथी मुझे

मूर्ख समझेंगे। वे यह धारणा बाँध लेंगे कि मैं निर्धन और मूर्ख होने के कारण इस दिव्य पान से परिचित नहीं हूँ। इसी विचार से मैंने जैसे तैसे आँख बन्द करके एक प्याला गले से नीचे उतार दिया और पास की महिला के विशेष आग्रह से एक और प्याला भी पी लिया। थोड़ी देर तक साधारणतया भोजन करता रहा। शीघ्र ही मैंने देखा कि मेरे मस्तिष्क में कुछ गुदगुदी-सी मालूम होती है; चित्त में आवश्यकता से अधिक आह्लाद सा प्रतीत होता है। कुछ ही देर में समक्ष की वस्तु घूमती हुई दृष्टिगोचर होने लगी। मैं अपने स्थान पर पीछे की ओर झुक कर ऊँघ-सा गया। अन्य व्यक्ति भी इसी प्रकार ऊँघते हुए दिखाई देते थे। फिर क्या हुआ यह मुझे नहीं मालूम।

लगभग अर्द्ध रात्रि को मेरी निद्रा खुली। मैंने अपने आपको एक सुन्दर पर्यङ्क पर सोता हुआ पाया। मुझे यह नहीं मालूम कि जेवनार कितनी देर तक हुई। मुझे यह भी नहीं मालूम कि कौन मुझे इस अवस्था में सुला गया था। परन्तु मुझे यह सन्तोष था कि मैं अकेला नहीं हूँ। कोई श्लोक पढ़ रहा था—

"किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगात्
अविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण,

अशिथिलपरिरम्भ व्यापृतैकैकदोष्णो

रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्।"

प्रातःकाल कुछ निद्रा सी आगयी। जब नेत्र खुले तो सूर्य रश्मियां कमरे में बुहारी लगा रहीं थीं। मेरे पास कोई न था। मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरी सुन्दरी मुझे ऐसी अस्त-व्यस्त अवस्था में छोड़ कर क्यों चली गयी। मैं शीघ्र ही उठा। मुँह-हाथ धोकर प्रातःकालीन कार्य से निवृत्त हुआ। प्रातःकालीन सन्ध्या में तनिक भी चित्त न लगा।

लगभग दस बजे थे। मैं कमरे के बाहर निकल कर सुन्दरी की प्रतीक्षा में इधर-उधर टहल रहा था। पत्ते की खुरुक में मुझे उसी के चरणों की आहट जान पड़ने लगी। वायु के झोंकों में उसी के चरणों की झङ्कार आने लगी। मैं बार-बार कमरे के बाहर जाता था और बार-बार भीतर आता था। चित्त की भाँति शरीर भी चञ्चल था। कभी-कभी सीढ़ियों से उतर कर कमरे की मोड़ तक जाकर देख आया करता था। किसी प्रकार के अचानक शब्द में चरणों की आहट मालूम होती थी। एक ओर स्थित करील किसलय के अनायास

आन्दोलन में किसी दुकूल की चञ्चलता का आभास हो जाता था। मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि यदि मैं कमरे में बैठा रहूँगा तो कोई न आवेगा। बाहर निकला। परन्तु यह भी प्रयोग व्यर्थ गया। अब यह ध्यान आया कि यदि मैं बरामदे में खड़ा रह कर प्रतीक्षा करूँ। यह भी, विचार व्यर्थ गया। थोड़ी देर के पश्चात् पर्य्यंङ्क-पतित निराशा में अर्द्ध-निमग्न मुझे कुछ व्यक्तियों की आहट मिली। मैं बाहर आया। मुझे दूर से दो व्यक्ति आते हुए दिखाई दिये। थोड़ा निकट आने पर मुझे ज्ञात हुआ उनमें से एक मेरी वही परिचिता रमणी और दूसरा एक सुन्दर युवक है। मेरे हृदय में अधीरता और संदेह एक साथ उठ बैठे। दोनों की व्यवहारों की अभद्रता ने मुझे और क्षुब्ध कर दिया। सारे शरीर में चिनगारियाँ-सी जलने लगी। थोड़ी देर के बाद ये दोनों हँसते और बातें करते हुए मेरे पास आये। युवक के जाने पर मैंने अपनी अधीरता की उससे चरचा की। परन्तु उसे सुनने का अवकाश न था।

मैं उठकर पागल की भाँति जानने किस ओर चल दिया। शीघ्र ही मुझे उपवन का स्वामी मिला। पुष्प बाणों का आघात वहीं से मेरे ऊपर किया।

मैं रुककर एक दूसरी महिला से बातें करने लगा। वृक्ष की छाया में बैठकर उसने मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की मेरे दुःख पर कहने लगी—

"जब इतनी बेवफ़ाई पर उसे दिल प्यार करता है।
तो गर वह बावफ़ा होती तो यारब और क्या होती"

मुझे भी यह शेर सुनकर कुछ मुस्कराहट आ गयी। मैंने सहसा उससे कह दिया—

"मेरे इस उन्मूलित जीवन-वृक्ष को क्या तुम अपने विश्वास की हृदय-भूमि पर नहीं लगा सकती" ? महिला ने हँसकर उत्तर दिया "यदि आप दूसरे को भूल जायँ।"

नाटक का दूसरा अंक आरंभ हो गया और शीघ्र ही कसमसाहट भी आरंभ हो गई। त्याग का पाठ भी दुहराया गया। दूसरे यात्री परिचय के लिये ठहरे। अब तो मेरे बहते हुये दिल में से कुछ टुकड़े ले लेकर सभी भागने लगे।

परन्तु मिलना और अलग होना अब एक साधारण घटना बनकर रह गई। इस प्रेम व्यापार में कुछ न मिला। ऐसा प्रतीत होने लगा कि किसी बहुत बड़े वस्तु की कमी है। मैंने सोचा कि प्रेम क्या है यह किसी से समझना चाहिये। इस विचार के दूसरे ही दिन मुझे

सुनने में आया कि एक सज्जन 'संतों के प्रेम' के सम्बन्ध में व्याख्यान देने आये हैं । जिस स्थान पर वह व्याख्यान देना चाहते थे वह इस सुन्दर उपवन से बाहर था । मैं दौड़कर वहाँ पहुँचा ।

सभा आरम्भ हो गई थी । सभापति ने कहा, "आज स्वामी प्रेमानन्द जी अपना व्याख्यान सन्तों के प्रेम के सम्बन्ध में देंगे ।" स्वामी जी करतल ध्वनि के साथ खड़े हुये और उन्होंने अपना व्याख्यान आरम्भ किया—

श्रीमान् सभापति जी तथा अन्य उपस्थित सज्जनों,

सन्तों के प्रेम का मर्म अवगत करना उतना ही कठिन है जितना प्रेम करना। अनुभूत प्रेमियों की 'अविगत गति' कुछ कही नहीं जा सकती। 'गूँगे के गुड़' की भाँति अन्तर ही में 'तोष' उपजा सकती है। जितना ही इस प्रेम के परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है, उतना ही मृग-तृष्णा की भाँति यह बुद्धि को उद्भ्रमित कर देता है। हाँ, यदि अत्यन्त प्रेम-कातरता से अधीर हृदय को मूक-कम्पन में आश्वासन का उछ्वास शब्द प्रदान करे, तो संभवत: प्रियतम के चरणों की आहट में संलग्न कर्ण उनमें प्रेम का राग सुन सकें। प्रेम का महत्व प्रेमी ही अनुभव कर सकता है—

लुत्फ़े मय तुझसे क्या कहूँ ज़ाहिद;
अरे कमबख्त तूने पी ही नहीं।

'ग़ालिब'

प्रेम मर्त्य-समाज की अमर्त्य सम्पत्ति है। इसमें प्रलय और विकास का अलौकिक सामञ्जस्य है। पूर्ण प्रलय में पूर्ण विकसित प्रत्यक्ष होता है। प्रेमी को लय में ही अभीष्ट का पूर्ण साक्षात होता है। प्रेम की अतिरेक-जनित आन्तरिक-क्रान्ति की उथल-पुथल में हमारे पार्थिव विग्रह के सारे परमाणु थिरक-थिरक कर सूक्ष्मता की परिधि का भी उल्लंघन कर दैवत्व का अनुक्रमण करने की चेष्टा करते हैं। प्रत्येक परमाणु जड़त्व से जीवत्व के विनिमय का प्रयत्न करता है। महात्मा कबीर दास जी कहते हैं—

"मूये पीछे मत मिलो, कहैं कबीरा राम।
लोहा माटी मिल गया, तब पारस केहि काम।"

कितनी सुन्दर और पवित्र विनय है। कबीरदास जी अपने पार्थिव शरीर के प्रत्येक परमाणु चेकोत न ब्रह्म बनाना चाहते हैं। प्रेम का कविता में कैसा सुन्दर दार्शनिक समावेश है।

प्रेम ही प्रलय का मुख्य कारण है सृष्टि का मुख्य

हेतु है। प्रेम ही जीवन-मरण का प्रधान व्यवधान है। प्रेम ही जीवन का आनन्द है।

अगर दर्दे-मोहब्बत से न इंसाँ आशना होता,
न मरने का सितम होता न जीने का मजा होता है
'ग़ालिब'

प्रेम उत्सर्ग की सर्वोत्कृष्ट दीक्षा है और तितिक्षा का अन्तिम सोपान है। कल्पना-क्रीड़ा के लिये प्रेम साम्राज्य एक विस्तृत क्षेत्र है। उसमें सजीवको निर्जीव तथा अजीव को सजीव करने की शक्ति है। प्रेमी प्रियतम के लिङ्ग-भेद, व्यय तथा काल की अपेक्षा नहीं करता। फ़ारसी वाले चाहे उसे आशना बनावें; संस्कृत वाले चाहे प्रियतम कहें कोई भेद नहीं। जिस भाव से जो अधिक प्रेम कर सके वही उसके लिये ठीक है। प्रेम की वेदना में विश्व-कम्पन करने का बल है।

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्।"

वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है और पत्थर भी फूट-फूटकर रोने लगता है। प्रियतम का संस्पर्श प्रेमी के लिये प्राण है। उसे वह प्रत्येक दशा में प्रत्येक काल में तुरन्त पहचान लेता है। जंगल में एकाकी विचरण करते हुये सीता-वियोग व्यथित, मूर्छा-प्राप्त श्री रामचन्द्र

अदृश्य-रूप धारिणी सीता द्वारा संस्पर्शित होकर तुरन्त ही संज्ञा प्राप्त करके कहने लगते हैं—

"स्पर्शः पुरा परिचितो नियतं स एव
संजीवनश्च मनसः परिमोहनश्च;
संतापजां सपदि यः प्रतिहृत्य मूर्च्छा-
मानन्दनेन जड़तां पुनरातनीति ॥"

'भवभूति'

अवश्य ही पूर्व-परिचित स्पर्श है। यह मन को जीवन प्रदान करने वाला और मोहने वाला है। वियोग-सन्ताप से उत्पन्न मूर्छा को तो इसने दूर कर दिया परन्तु आनन्द-जनित जड़ता मस्तिष्क पर साम्राज्य कर रही है।

वास्तव में इस स्पर्श को क्यों न इतनी शीघ्रता से अनुभव किया जाय ? यह तो उनका स्पर्श है जिनके वचन मात्र से उनका जीव कुसुम विकसित हो जाता है।

'म्लानस्य जीव कुसुमस्य विकासनानि;
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रिय मोहनानि;
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि,
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि'

भूति'

कैसी अद्भुत तल्लीनता है ! सन्तापोत्पन्न मूर्छा और आनन्द-जनित जड़ता का कैसा सुन्दर विश्लेषण किया गया है। भला ऐसे प्रियतम के स्पर्श परिचय का विद्युत् प्रभाव क्यों न हो ? यदि प्रेम में इतनी शक्ति न होती तो नेत्रहीन सूरदास श्री कृष्ण का सुन्दर स्वरूप कैसे देखते ? यह तो बात ही कुछ और है। स्पर्श तो दूर रहा; देखिए राधा जी केश की व्योरनि ही देखकर अनायास कह उठती हैं:

"वेई कर व्योरनि वही, व्योरो कौन विचार ?"

और उसी समय हृदय का मूक स्वर शब्दायमान हो उठता है:—

"जिनहींउर भयो मो भयो तिनहीं सुरभयो बार।"

'बिहारी'

प्रियतम चाहे जैसा रूप बनाकर आवे, चाहे बहुरुपिये कौंरवग चेर, परन्तु प्रेमी के नेत्रों को धोखा नहीं दे सकता। उससे कोई भेद नहीं छिपा सकता। प्रेम के अलौकिक दिव्य चक्षु हैं। उनमें अचूकता है। अपने अभीष्ट का परिवर्तित रूप देख कर एक कवि कह उठता है—

"अजब रूप धर कर आये हो, छबि कह दूँ या नाम कहूँ ?
रमण कहूँ या रमणी कह दूँ, रमा कहूँ या राम कहूँ ?
तीर बने तम चीर रहे हो, सौदामिनि अभिराम कहूँ ?
मोर नचाते, ग्वाल हँसाते, या जलधर घनश्याम कहूँ ?
हृदय-प्रदेश उजाला-सा है, उन्हें चन्द्रिका कहदूँ क्या ?
चमको नील नभोमण्डल में, बाल चन्द्र प्यारे आहा !"

"माखन लाल चतुर्वेदी"

प्रेमी की दृष्टि में स्त्री के वेश में पुरुष और पुरुष के वेश में स्त्री छिप नहीं सकती। वे तो सभी वस्तुओं को लिंग भेद से परे देखते हैं। सच्चे प्रेमी को स्त्री-पुरुष, बालक और बूढ़े से क्या काम ? संसार का रूप-सौन्दर्य्य उनके समक्ष क्या मूल्य रखता है ? लैला का बाह्य सौन्दर्य्य मजनू के ध्यान में भी कभी न आया था। वहाँ तो बात ही दूसरी है—

अति अगाध अति ओथरे, नदी; कूप, सर, बाय,
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥"

'बिहारी'

जब ऐसी तन्मयता है, तो पहचान में विलम्ब कैसा ? चुम्बक का लोहे से कौन परिचय कराता है ? प्यासे को जल कौन दिखलाता है ? भला जो तीर बनकर तम चीर

सकता है, और जिसमें हृदय-प्रवेश करके उजाला करने की सामर्थ्य है, उसके पहचानने में विलम्ब कैसे हो सकता है ? परन्तु बात साधारण नहीं है—

"या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहीं कोय ।
ज्यों-ज्यों भीजै स्याम रंग, त्यों-त्यों उजलो होय ॥"

'बिहारी,

चित्त की इस अनुरागी गति को वास्तव में कोई प्रेमी ही समझ सकता है। परन्तु किस कोटि का प्रेमी ? कोई साधारण प्रेमी नहीं, वरन् अपने को नाश किये हुये कोई मतवाला पागल जिसने आत्म-विनाश में ही आत्म-विकास देखा है।

"वीराँ किया जब आपको, बस्ती नज़र पड़ी ।
जब आप नेस्त हम हुये, हस्ती नज़र पड़ी ॥"

'ग़ालिब

इसी लिए तो कबीर दास जी कहते हैं:—

"सीस उतारै भुइं धरे, ता पर राखै पाँय ।"

तब कहीं प्रेम-गली में विचरण करने का अधिकारी हो सकता है।

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा-परजा जेहि रुचै सीस देहि लै जाय ।

'कबीर'

प्रेम का प्रमाद जीवन-भर रहता है। मलूकदास जी मृत्यु-पर्य्यन्त मतवाले फिरते रहे और अन्त में उन्हें कहना ही पड़ा—

'कठिन पियाला प्रेम का, पिये जो प्रेमी हाथ,
जीवन-भर माता फिरै, उतरै जिय के साथ।

परन्तु ऐसे प्रेमी कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। ये तो अलमस्त हैं।

"उनकी नज़र न आवते कोई राजा-रंक,
बन्धन तोड़े मोह का फिरते हैं निश्शंक।"

'मलूक दास'

ऐसे ही प्रेमियों के सम्बन्ध में कबीरदास जी कहते हैं कि उनकी मृत्यु ही नहीं होती। मृत्यु कैसे हो ? वे तो जीवन-मृत हो जाते हैं। देहावसान के पश्चात् की तो बात ही और है, देह में भी वे सांसारिक व्यक्तियों से इतर रहते हैं। उन्हें किसी को हँसी का भय नहीं है उन्होंने तो "सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई" है। इन प्राणियों को जाति-पाँति का कुछ विचार नहीं होता। सुन्दरता और कुरूपता का इनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं होता। वे तो अपने हृदय में प्रेमी का एक काल्पनिक प्रतिबिम्ब पाते हैं। उसी की जुस्तजू में

दीवाने घूमते हैं। उन्हें पागल कहलाने में ही आनन्द आता है। कवि 'देव जी' की प्रेम बिकानी सखी कहती है:—

"काहू की कोऊ कहावति हौं नहिं, जाति न पाँति न तासों खसौंगी।
मोरियै हाँसी करौ किन लोगु, हौं को 'कवि देवजू' काहु दसौंगी॥
गोकुलचन्द की चेरी-चकोरी हौं, मंद-हँसी मृदु-फंद फसौंगी।
मेरी न बात बकौ बलि कोउ, हौं बौरियै ह्वै ब्रज-बीच बसौंगी॥"

बोरियो बंस बिरुद में बौरी भई बरजत,
मेरे बार-बार बीर कोऊ पास बेठो जनि,
बिगरी अकेली हौं ही, सिगरी सयानी तुम,
गौहन में छाड्यो, मो सों मौहन आमैठो जनि
कुलटा, कलंकिनी हौं, कायर, कुमति कूर,
काहू के न काम की, निकाम यों ही ऐंठो जनि,
'देव' तहाँ बेठियत, जहाँ बुद्धि बैठे, हौं तो,
बैठी हौं बिकल, कोऊ मोंहि मिलि बैठो जनि।

वास्तव में यदि बौरी ही कहाकर गोकुलचन्द के दर्शन होते हों तो बौरी ही कहाना सुन्दर है। संसार में बहुत ऐसे स्थान हैं, जहाँ बुद्धि बढ़ सकती है। उसे तो कुल-कलंकिनी, कायर, क्रूर कुछ भी समझो वह अपनी बान नहीं छोड़ सकती। वह न किसी के काम की है न कोई उसके काम का। वह तो बिकल कलेजा हाथ लिए

बैठी है। फिर उससे मिलने से क्या लाभ ?

क्या निराला प्रेम है। कैसा अलौकिक विराग है। प्रेमी के लिए अभीष्ट-जन के अतिरिक्त है ही कौन ? वह क्यों किसी की वाचालता की परवाह करे ? सांसारिक आलोचनाएँ, समय-गति पर निर्भर हैं। उनका उद्भव-स्थान मानवी निर्बलता है। उनकी आधार शिला भय पर न्यस्त है। वह शीघ्रता से मानवी-विचार बाहुल्य के झोंके से कम्पायमान हो जाती है। उसकी स्तिथि अस्थिर और क्षणभंगुर है। परन्तु सच्चे प्रेम का आधार बहुत सुदृढ़ है। काल, अवस्था, व्यक्ति-भेद के अन्तर से उसका निरूपण नहीं होता। संस्कृत कवि भवभूति, प्रेम की कुछ मर्य्यादा तक पहुँचते हैं, जब वे कहते हैं।

"अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः,
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेह सारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते।

यह प्रेम 'सर्वावस्था' में अपने गुण को नहीं छोड़ता। वह सुख-दुख में सम रहता है। उसमें हृदय को विश्राम मिलता है। वृद्धावस्था के कारण उसका रस क्षीण नहीं होता। कालान्तर में भी उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन

नहीं होता। वास्तव में ऐसा प्रेम धन्य है। धन्य हैं वे जिनमें इस प्रेम का बीज वपन हुआ है। मान गर्वादि से रहित, सुख भोग की लालसा से पृथक अत्यन्त नम्र शीतल विशुद्ध प्रेम की झलक का विवरण मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में नागमती के शब्दों से कहलाया है—

"मोंहि भोग सो काज न वारी।
सौंह दीठि कर चाहन हारी॥"

आगे भी कहा है—

"ना मैं सरगक चाहौं राजू ना मोहिं नरक सेति कछु काजू।
चाहौं ओहिकर दरसन पावा, जेहि मोंहि आनि-प्रेम पथ लावा॥"

प्रेम और वासना का इतना सुन्दर विश्लेषण बहुत कम दृष्टिगत होता है। प्रेम बिना सब सूना है। एक भक्त का कथन है—

"तीन लोक चौदह भुवन, सबै परै मोंहि शूझि।
प्रेम छांड़ि नहिं लोन कछु, जो देखा मन बूझि।"

प्रताप नारायण जी कहते हैं—

"जहाँ तक सहृदयता से विचारियेगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म्म के बे-सिर-पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल और मुक्ति प्रेत की बहन है।"

अगर इतनी खूबी प्रेम में न होती तो क्यों कोई उसमें चिपटा रहता ? प्रेम में विरह है। विरह में मिठास है। कड़वेपन में माधुर्य्य है। प्रेम के शरीर में विरह-जीवन है। प्रेम की वृद्धि में विरह साधन है। प्रेम के ध्येय का विरह मार्ग है। प्रेम मुक्ति और विरह मंत्र है। प्रेम पिता और विरह पुत्र है। विरह की तड़पन में प्रेमी का अर्द्ध साक्षात होता है। विरह की वेदना में प्रेमी की आत्मा का स्फुरण होता है। विरह की अन्तिम सीमा विरह की औषधि है।

"दर्द का हद से गुज़रना है, दवा हो जाना।"

विरह की गाथा में विश्व का इतिहास है। विरह के कथानकों में संसार का माधुर्य्य है।

"Our sincerest laughters are
with pain wrought,
Our sweetest songs are those
that tell of saddest thought."

प्रेमी को अपना दर्द-दिल लिये लिये घूमने में ही आनन्द आता है। दर्द ही उसका जीवन है। दर्द का जाना मृत्यु का आमन्त्रण करना है। दर्द शरीर-कृन्तन करता है, परन्तु उसका नाश नहीं करता। अत्यन्त विरह

में उसे अत्यन्त आनन्द आता है। वह मृत्यु में जीवन अनुभव करता है। सीता विरह व्यथित राम कहते हैं—

"दलति हृदयं गाढोद्वेगः द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकल: कायो मोहो न मुञ्चति चेतनाम्
ज्वलयति अन्तर्दाहः करोति न तु भस्मसात,
प्रहरति विधि मर्मच्छेदी, न कृन्तति जोवितम् ॥"

गाढ़ो-द्वेग हृदय को दहन करता है, परन्तु उसे विदीर्ण नहीं करता। विकल शरीर मूच्छित हो जाता है किन्तु सर्वदा के लिए निसंज्ञ नहीं हो जाता। तन को अन्तर-ज्वाल जलाती है, पर भस्म नहीं करती। मर्मच्छेदन होता है किन्तु जीव का उच्छेद नहीं होता।

जीव का उच्छेद हो कैसे ? वहाँ तो प्रियतम की मूर्ति साक्षात् विद्यमान है। रामचन्द्र जी अपना विनाश भले ही चाहें, परन्तु प्रियतमा का बाल बाँका न होना चाहिए। तुलसीदास जी रामचरित-मानस में इस प्रेम की सूक्ष्मता तक उस समय पहुँच जाते हैं जब रावण के बध के सम्बन्ध में स्वयं रामचन्द्र जी कहते हैं—

"याके हृदय बस जानकी, मम जानकी उर बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत बाण सब को नास है ॥"

केवल स्मरण मूर्ति के विनाश से साक्षात् का विनाश सोचना कितना सूक्ष्म विचार है उसे कौन समझे ? अच्छा हो, उसे कबि की नैसर्गिक कल्पना कहकर ही टाल दिया जाय। यदि प्रेम के समझने में कोई ऐसीं निहित बात न होती तो श्री रामचन्द्र जी उसे श्री हनुमान जी को समझा कर सीता के पास भेजते। परन्तु वे तो सीता जी के लिए केवल इतनी ही बात कहते हैं—

"तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा,
सो मन रहत सदा तोहिं पाहीं, जानि लेहु बस इतने हि माहीं।"

'तुलसीदास'

'इतने हि माहीं' में संसार की कौन-कौन सी बातें छिपी हैं यह तो ईश्वर ही जाने, परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि इतना कहते-कहते श्री रामचन्द्र जी का गला भर आया, नेत्र डबडबा आए और वे आगे कुछ न कह सके।

परन्तु उधर यह सारा तत्व मूक भाषा से ही सीता के हृदय में अंकित हो गया। किसी टीका की आव-श्यकता नहीं, किसी के समझाने की जरुरत नहीं। प्रियतमा सदा उनके पास है। वह सबसे बड़ा भाष्यकार है। जब कोई दूसरा नही होता है तभी वह अपनी टीका आरम्भ करता है।

"तुम मेरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा नहीं होता।"
'मोमिन'

मन-भावन का मन, मन-भावन से भी अधिक मूल्य-वान है। सीता के हृदय में उनके मन-भावन का चित्र है। वही मन-भावन, जिसके लिये मतिराम कहते हैं—

"सपनेहु मन भावनो करत नहीं अपराध।"

इसी से मान करने की साध मन-ही-मन में रह जाती है। परन्तु वह अपराध करे कैसे ? वह तो अपराध कर ही नहीं सकता। उसमें तो सब गुण ही गुण हैं। उसने अपना स्थान प्रेमी के हृदय में सुदृढ़ बना लिया है। वे मूर्ख हैं, जो उसे इधर-उधर देखते हैं। कविवर रवीन्द्र जी उन्हें सन्देश देते हैं—

"Who are you to seek him like a
Beggar from door to door,
Come to my heart and see
His face in the tears of my eyes."

आप क्यों एक भिखारी की भाँति उसे दरवाजे-दरवाजे ढूँढ रहे हैं ? मेरे हृदय के निकट आइये और उसका दर्शन मेरे अश्रुओं में कीजिये।

परन्तु आँसुओं की धारा चौबीसों घन्टे तो नहीं

चलती। फिर प्रियतम का हमेशा कैसे दर्शन कराया जा सकता है? इसका भी उत्तर कविवर मतिराम जी बड़े सुन्दर शब्दों में देते हैं:—

"बिन देखे दुख के चलहिँ देखे सुख के जाहिँ
कहो लाल इन दृगन के अँसुवाँ किमि ठहराहिँ।"

बस अब तो चौबीसों घन्टे दर्शन हो सकते हैं। केवल लगन की आवश्यकता है। इस लगन में अभीष्ट का स्वरूप हृदय के प्रत्येक जीर्ण खण्ड में आरसी के टुकड़ों की भाँति प्रतिबिम्बत करने की शक्ति होती है और इन्हीं प्रति-बिम्बों में आरसी के टुकड़ों को फिर एक कर देने का बल है। प्रियतम के दृष्टिपात से प्रेमी का दुख आधा हो जाता है।

'सियहिँ विलोक तक्यो धनु कैसे
चितव गरुड़ लघु व्यलहि जैसे।'

'तुलसी'

बस इतने संकेत से ही सीता के ऊपर अमृत वर्षा हो गयी होगी। जायसी की धारणा है—

"सूखि बेलि पुनि पलुहई जो पिव सींचे आय।"

'सूखि बेलि' की तो बात ही क्या? यदि मृत-बेलि भी हो तो प्रिमतम के दृष्टि-विक्षेप से ही हरित हो सकती है।

प्रेमी को सारी प्रकृति में अपना ही रंग देख पड़ता है। जान पड़ता है कि पलाश में उसी के विरह की अग्नि है। सन्ध्या-सूर्य्य में उसी के विरहानल की लपट है। मंजीठ और टेसू भी उसी के रक्त अश्रुओं से लोहित हैं। मेघ भी उसी के विरहानल में रञ्जित वीर-बधूटी की वर्षा करता है। बसंत की लालिमा उसी के हृदय का प्रतिबिम्ब है। योगी यती के गेरुए वस्त्रों में उसी का प्रभाव है। कोयल की कूक में उसी के प्रेम की फ़रियाद है। कौवे और मोरों की कालिमा में उसी के विरहाग्नि की लपट लग गयी है। क्योंकि—

"जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह की बात,
सोई पंखी जाइ जरि, तरुवर होई निपात।"

'जायसी'

इसीलिए काग और भौंरे से प्रियतम के पास सन्देश भेजते हुए प्रेयसी कहती है—

"पिय सों कहेउ संदेशवा, हे भौंरा हे काग,
सो धनि विरहै जरि मुई, जेहिक धुँवा हम लाग।"

'जायसी'

कितनी विश्वव्यापिनी विरहाग्नि है। कितनी अधिक इसका प्रभाव है। सारा विश्व इससे थर्राता है। मुहम्मद साहब कहते हैं—

"मुहमद चिनगी प्रेम की, सुनि महि गगन उराय।
धनि विरही अरु धनि हिया, जहं यह अगिन समाय॥"

यह विरह की चिनगी वास्तव में बड़ी प्रबल है। प्रेमी को बड़ा आश्चर्य होता है, यदि प्रकृति उससे अति-क्रान्त न हो। भक्त शिरोमणि सूरदास जी की सखियाँ मधु-बन को हरा देखकर कह उठती हैं—

"मधुबन, तुम कित रहत हरे?
विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।"

वास्तव में इन विरह-दग्धा सखियों को मधुबन को हरा देखकर बड़ा आश्चर्य्य होता है। वे अपनी हृदय-दाहक पीर को प्रकृति में सन्निवेश करना चाहती हैं। वे अपने हृदय का दग्ध प्रतिबिम्ब बाहर देखने की चेष्टा करती हैं। प्रकृति की सहानुभूति से उन्हें बल मिलता है। उसकी प्रतिकूलता से उनकी व्यथा और बढ़ती है। भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने अपने 'रामचरित-मानस' में इसी भाव को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है—

"नूतन किसलय मनहुं कृसानू, काल निशा सम निशि शशि भानू,
कुवलय-विपिन कुंत-बन सरिसा, बारिधि तपत तेल जनु बरिसा।
जेहि तरु रहौं करइ सोइ पीरा, उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥"

सूरदास जी की विरहिणी सखियों की दशा देखिये। वे चाँदनी रात्रि की वेदना-वर्णन करती हैं—

"अब मोहिं निसि देखत डर लागै,
बार-बार अकुलाइ देह से निकसि-निकसि मन भागै।"

वास्तव में यदि जीव-तन्तु शरीर को मन से बाँधे न रहे, तो यह न जाने कब उड़कर विरह-ताप की अधीरता के वाष्प-यान पर चढ़कर प्रियतम के निकट पहुँच जाय। इसी बन्धन की खींच के कारण 'निकसि-निकसि' कर भागने पर भी वह, कहीं नहीं जा सकता। परन्तु बार बार अनवरत रूप से 'निकसि-निकसि' भागने का प्रयत्न प्रकट करता है कि लगन बड़ी जबरदस्त है। प्रियतम के बिना कैसे शान्ति से रहा जाय।

"प्रियतम नहीं बजार में, बहै बजार उजार,
प्रियतम मिलै उजार में बहै उजार बजार।
कहा करौं बैकुण्ठ लै, कल्पवृक्ष की छांह,
'अहमद' ढाँक सुहावने जहं प्रीतम गल बांह॥"

'अहमद'

भक्त शिरोमणि कबीरदास जी भी बैकुण्ठ जाने तक को प्रस्तुत नहीं।

"राम बुलावा भेजिया, कबिरा दीन्हा रोय,
जो सुख प्रेमी-संग में सो बैकुण्ठ न होय।"

वह सुख बैकुण्ठ में कैसे हो। वहाँ तो बिलकुल सुख ही सुख है। विरह-वेदना कहां है? प्रियतम के लिए तड़पने का अवकाश कहाँ है? प्रेम के परिचय देने का बिधान कहाँ है? फिर कबीर उसे क्यों चाहें? यही नहीं कुछ लोगों ने तो स्वर्ग की कल्पना भी प्रेम-मय की है।

"All that we know of Heaven above,
Is that they live and that they love"
'Scott.'

एक अंग्रेज़ की धारणा है कि स्वर्ग के विषय में जो कुछ हम जानते हैं, वह यह कि लोग वहाँ निवास करते हैं और प्रेम करते हैं। परन्तु प्रेमी का स्वर्ग तो प्रियतम है। वह उसी की चिन्ता में मस्त रहता है। वहीं उसे स्वर्ग का आनन्द है। वह गुरु और गोविन्द में गुरु को ही पसंद करता है। वह तो अपना सब कुछ विनाश करके प्रियतम के ही स्वार्थ लगाना चाहता है।

"रात दिवस बस यह जिउ मोरे,
लगौं निहोर कन्त अब तोरे।

"या तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव,
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहं पांव।"

'जायसी'

इसी भाव को एक संस्कृति कवि ने व्यक्त किया है। उसकी याचना है कि मृत्यु के उपरान्त, उसके शरीर के जल का अंश उस नीर में मिले जहाँ उसका प्रियतम स्नान करता है। उसके शरीर के ज्योति का अंश उस मुकुर में मिल जाय जिसमें उसका अभीष्ट मुंह देखता है। जिसमें वह सदैव उसके समक्ष रहे। आकाश का अंश उस आकाश में लीन हो जो कि प्रियतम के गृह के ऊपर है। जिसमें ज्यों ही वह ऊपर दृष्टि करे, प्रियतम का दर्शन मिल जाय। पृथ्वी का भाग उस पृथ्वी में जाकर मिल जाय जहां वह विहार करता है, जिसमें प्रेमी को उसके पादस्पर्श का लाभ मिल जाया करे। और वायु का भाग उस व्यजन की वायु में मिले जिसे प्रियतम प्रयोग करता है जिसमें कि निरन्तर उसका स्पर्श होता रहे। कितना प्रगाढ़ प्रेम है! कितनी प्रेममयी निष्कलंक याचना है!! कितना बलिदान है!!!

इधर देखिये कृष्ण रंग राती 'ताज' श्यामला सलोने'

के मृदुल फंद में फँस कर हिन्दुआनी होकर रहने में भी तैयार हैं।

सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी तुम,
इस्मही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव पूजा ठानी, मैं निवाज हू भुलानी,
तजे कलमा कुरान, सारे गुनन गहूंगी मैं।
श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
थारे नेह दाग में, निदाघ है दहूंगी मैं।
नन्द का कुमार कुर्बाण ताणी सूरत पै,
ताण नाल प्यारे, हिन्दुआनी है रहूंगी मैं।

'ताज'

आगे देखिये भक्त-प्रवरा मीरा बाई अपना शरीर विनाश करने को प्रस्तुत हैं:—

"कागा सब तन खाइयो, चुनि-चुनि खैयो मांस।
द्वै नैना मत खाइयो, प्रिय-दर्शन की आस॥"

कितनी बलवती दर्शन की आशा है। क्या है यदि इन नेत्रों को भी कौवे खा जांय? प्रेम चक्षु तो हैं ही। और फिर—

"दिल के आइने में है तस्वीरे-यार,
जब ज़रा गर्दन झुकाई देखली।"

परन्तु यह तस्वीर सब के आइने में नहीं होती। सब का आइना इतना स्वच्छ भी नहीं होता। किसी का आइना धुँधला और किसी का बेकार होता है। किसी किसी के आइने में प्रतिदिन प्रियतम उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं और हृदय-पट पर चलित चित्र की भाँति अनेक प्रतिबिम्बों के निरन्तर चलने का दृश्य दिखलायी देता है। वासना का टिमटिमाता हुआ खद्योत-प्रकाश ही उनका जीवन-आधार है। परन्तु इन निर्बल हृदयों की यहाँ बात नहीं। इन बहु-मनस्कों को कभी सन्तोष नहीं मिल सकता—

"कबिरा या जग आइकै, कीया बहुतक मिन्त,
जिन दिल बाँधा एक ते, ते सोवैं निह चिन्त।"
कबीर'

और उस एक के प्रति भी—

"छन हि चढ़ै छन ऊतरै, सोतो प्रेम न होय,
अघट प्रेम-पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय।"
'कबीर'

यहाँ तो उस प्रेम की चर्चा है जिसकी ठेस बड़े-बड़े अनुभव करते हैं। योगी, यती, विरागी, सन्यासी, सभी को उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है। शकुन्तला को

प्रस्थान करते देख महर्षि कण्व अपनी व्यथा कहते हैं। यह केवल मानवी दुर्बलता का ही एक झोंका था। परन्तु इसमें कितनी अधिक सत्यता है।

"यास्यत्यद्य शकुंतलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कंठया,
कंठः स्तम्भित वाष्प वृत्तिकलुषश्चिन्ताजड़ं दर्शनम्,
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेषदुखैर्नवैः"

'कालिदास'

आज शकुन्तला प्रयाण करेगी इस बात से हृदय उत्कंठा से परिपूर्ण है; गला रुँध गया है, चिन्ता से दर्शन जड़ हो गए हैं। अपनी यह अवस्था देखकर कण्व भी कहते हैं कि जब वेदाभ्यास से जड़ अरण्य-निवासियों का यह हाल है तो कन्या को भेजते समय गृहस्थियों के दुःख का क्या हाल होता होगा ? सीता के प्रयाण-काल में राजर्षि जनक का हाल सुनिए—

"सीय विलोकि धीरता भागी, रहे कहावत परम विरागी,
लीन्ह राय उर लाय जानकी, मिटी सकल मर्याद ज्ञान की ॥"

जनक ऐसे राजर्षियों का यह हाल है, कितनी शीघ्रता के साथ 'ज्ञान की मर्य्यादा' मिट जाती है। जो मर्य्यादा इस प्रेम के प्रश्रोत को रोके, उसका मिट ही जाना

अच्छा है। प्रेम का प्रभाव जब ऐसे महान व्यक्तियों पर इतना अधिक पड़ता है तो साधारण व्यक्तियों की कौन चलावे। उनकी कौन कहे जिनका प्रेम केवल वात्सल्य प्रेम ही नहीं है। जो प्रियतम के मार्ग में नयन बिछाये हैं, और यही रटते हैं 'तुम्हारे आने भर की देर, किया है हृदयासन तय्यार—उनका धर्म्म भी प्रेम ही है। ये भक्त लोग प्रेम ही के उपासक हैं।

'धर्म्म के भक्त न अर्थ के दास न मुक्ति के इच्छुक प्रेम के चेरे।'

शंभुदातालु श्रीवास्तव्य'

यही बात है, तभी तो उनके प्रेम में शक्ति है और माँग में बल है। उनकी आह में विश्व कम्पन करने की क्षमता है। इसी लिये तो उन्हें प्रकृति के वाष्प-कण सहानुभूति के अश्रुबिन्दु प्रतीत होते हैं। उन्हें अपने विरह का चिस्का लग जाता है। जुरअत साहब का कहना है—

"लगती नहीं पलक से पलक, वस्ल में भी आह।
आँखों को पड़ गया है, मज़ा इन्तज़ार का।"

वियोग को ही वे बड़ा भारी तप समझते हैं। भक्त प्रवर मलिक मुहम्मद जायसी का कहना है—

"यह बड़ जोगु वियोग को करना,
पिय जस राखै तब तस रहना।"

योग की कितनी सुन्दर परिभाषा है। यदि कृष्ण-वियोगिनी सखियों को यह मूल मन्त्र ज्ञात होता तो वे काहे को रोया करतीं। ऊधो तो इसी मन्त्र की दीक्षा दे रहे थे, परन्तु वे तो अपने विरह बीचि में ऊधो को उसकी ज्ञान गाथा समेत बहाये दे रही हैं—

'मति अति आपकी अबल अबला सी लगै,
सागर सनेह कहो कैसे पार पावेगी।
खोलिए न जीह अरु लीजिए न नाम इत,
बलदेव ब्रजराजजू की सुधि आवेगी।
सुनतहिँ प्रलय-पयोधि माँहि एक ऐसी,
कहर करनहारी लहर सिधावेगी।
राधे-दृग-सलिल प्रवाह माँहि आजु ऊधो,
रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावेगी।'

'बलदेव'

इसी श्रेणी के अन्य भक्तों के भी व्यंग देखिये। ये भी इसी मनोभाव के परिचारक हैं। उन्हें तो कुछ और ही अच्छा मालूम होता था। उन्हें चुपके बैठे रहने में सन्तोष नहीं, वे तो फ़रियाद करने के आदी हैं। कभी वे

प्रियतम को मनाते हैं, कभी बिगड़ जाते हैं, कभी बड़ा गहरा व्यंग कर उठते हैं। सौदा साहब कहते हैं—

"मेरी आँखों में तु रहता है, मुझको क्यों रुलाता है।
समझकर देख ले, अपना भी कोई घर डुबाता है।

दूसरे सज्जन फ़रमाते हैं—

"तुम बिन एती को करै, कृपा जु मेरे नाथ,
मोंहि अकेली जानि कै, दुख राख्यो है साथ।"

एक दूसरे उर्दू के कवि की तानाज़नी सुनिये—

"भेज देता है खयाल अपना, एवज अपने मुदाम,
किस क़दर यार को ग़म है, मेरी तनहाई का।"

यही नहीं लोग तो बड़ी ढिठाई से युद्ध करने तक को प्रस्तुत हो जाते हैं। सूरदास जी को देखिये—

"आजु हौं एक-टेक करि टरिहौं।"
कै हम ही कै तुम ही माधौ अपुन भरोसे लरिहौं।"

एक ओर तो कृष्ण-मूर्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर उन पर ऐसे बिगड़ जाते हैं कि उनके कालेपन पर अवाज़े-तवाज़े कसने लगते हैं—

"ऊधौ कारे सबै बुरे"
कारे की परतीत न कीजै, विष के बुते छुरे।"

परन्तु क्या यह कोरा व्यंग है? यह तो प्रेम के उद्‌गार

का सम्बोधन है। हृदय में उमड़ते हुये प्रेम के समुद्र का एक उफान है। यदि एक स्थान पर वे विनोद में आकर व्यंग कह बैठते हैं तो चौबीसों घन्टे उनकी फ़ुरक़त में क्या जला नहीं करते? कबीर दास की दशा देखिए—

"माँस गया पिंजर रहा, ताकन लगे क़ाग,
साहब अबहुँ न आइयाँ, मंद हमारे भाग।"

परन्तु चाहे कोई अपने भाग्य को मन्द कहे चाहे करम ठोके, वे तो खूब इन्तजार कराते हैं। बिरह-घुन मांस को अवश्य ही धीरे-धीरे क्षय कर देगा परन्तु शरीर का पात होना नहीं है। लौ यदि लगी है तो कोई चिन्ता न करनी चाहिये। कागों का ताकना व्यर्थ है। यदि शरीर का पात हो जायगा तो "पिया मिलन की आशा" कहाँ निवास करेगी। प्रेमा तो तभी नष्ट हो सकता है जब विरह छूट जाय, आशा नष्ट हो जाय। विरही की दशा एक प्रेमी इस प्रकार लिखते हैं—

"विरहिन ओदी लाकड़ी, सपचै औ धुंधुआय,
छूट परे या विरह से, जो सगरी जरि जाय।"

'कबीर'

यह आश्चर्य की बात है कि विरह की चिनगी प्रेमी को तो भस्मीभूति नहीं करती परन्तु—

"विरह जलन्ती मैं फिरौ, वह बिरहिन को दुक्ख,
छाँह न बैठौं डरपती, मति जरि उट्ठै रुक्ख ।"

बात यह है कि वह अपने विरह की तीक्ष्णता इतनी अनुभव करती है कि उसे नाना प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि विरही इस विरहाग्नि से क्यों इतना चिपटता है ? इसमें उसे क्या मिलता है ? क्यों इस कष्ट को सुख पूर्वक अनुभव करता ? कबीर दास जी ने इसे समझने की चेष्टा की है। उनका कथन है—

"लागी लगन छुटै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय,
मीठा कहा अंगार में, जाहि चकोर चबाय।"

जब चकोर की लगन की यह हालत है तो मानवीय लगन क्यों न इससे अधिक बलवती हो ! फिर बिरह तो प्रेमी के लिए एक संदेश रखता है। स्वयं कबीर दास जी बतलाते हैं कि वे बिरह से क्यों चिपटे हैं। उनका कहना है—

"विरहा मों से यों कहै, गाढ़ा पकड़ो मोहि,
प्रेमी केरी गोद में, मैं पहुँचाऊँ तोहिं।"

यही रहस्य है। इसी से सन्त इस में चिपटे रहते हैं। वे तो वास्तव में 'सत्य सनेह' निबाहते हैं। फिर प्रियतम के मिलने में क्या सन्देह। उन्हें तो दर्द की दवा

की जुस्तजू है। उर्दू के कवि ग़ालिब का कहना है—

'इश्क से तबीयत ने, ज़ीस्त का मज़ा पाया,
दर्द की दवा पायी, दर्दबेदवा पाया।"

परन्तु इश्क की इस जीस्त को समझना सहल नहीं है। अनुरागी चित्त की यह गति बहुत ही कम व्यक्ति समझते हैं। यह तो वही समझता है जो दर्द रखता है—

"वही समझेगा मेरे ज़ख्में दिल को,
जिगर पे जिसके एक नासूर होगा।"

'वज़ीर'

वैद्य बुलाना व्यर्थ है। 'कलेजे की करक' वह क्या समझेगा। वह क्या दर्द का इलाज करेगा। उसकी तो औषधि करने वाला कोई भिन्न ही व्यक्ति है और वह अपरिचित नहीं है। वह तो सब से अधिक परिचित है। वह है वही प्रियतम—

"जिन या वेदन निर्मयी भला करेगा सोय।"

'मीरा'

ग़ालिब भी ऐसी ही बात कहते हैं—

"मुहब्बत में नहीं है फ़रक जीने और मरने का
उसी को देखकर जीते हैं जिस पर दम निकलता है।"

परन्तु कब तक वेदना जायगी, यह कौन जाने? कब

उस दर्द की दवा मिलेगी यह कौन जाने ? कब तक अँखियाँ हरि दर्शन की प्यासी रहेंगी, यह कौन जाने ? कब तक प्रेमी-पागल की लोग हँसी उड़वेंगे, यह कौन जाने ? सूरदास को देखिये, गद्‌गद् स्वर से अपनी व्याकुलता वर्णन करते हैं—

"अखियां हरि दर्शन की प्यासी !
देख्यो चहत कमल नयनन को, निस दिन रहत उदासी।
काहू के मन की को जानत, लोगन के मन हाँसी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिन, लैहौं करवत कासी ॥

सूरदास जी के नेत्र तो हैं ही नहीं 'अखियाँ' कहाँ से आयीं। प्यासी रह कर क्या करेंगी यदि उन्हें दीखता ही नहीं ? परन्तु यह कौन कहे कि सूरदास जी सूर हैं। उनके नेत्र हम सब से तीव्र हैं। उनके दिव्य दृष्टि हैं। वे तो अपने प्रियतम के रूप को धारण किए हैं। बाहरी नेत्रों की उन्हें परवाह नहीं। वह शारीरिक दुर्बलताओं को अच्छी तरह समझते हैं। उनको अपनी आत्मिक दृढ़ता पर भरोसा है। तभी तो झट से कह उठते हैं—

"बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि के मोहिं,
हिरदै से जब जाइहौ, सबल कहौंगो तोहि ॥"

वे तो अपने प्रियतम की बागडोर हमेशा अपने हाथ

र्म रखते हैं—

"कहा भयो जो बीछुरे, तो मन मो मन साथ।
उड़ी जाय कितहूं गुड़ी, तउ उड़ायक हाथ॥"

'विहारी'

उन्हें तो प्रियतम का सान्निध्य प्राप्त हो चुका है। परन्तु यह भाग्य सब के थोड़े ही हैं। बहुतों को तो स्वप्न के सान्निध्य का विचार करके रोना अवशेष रहता है। आलम की निराशा देखिये—

"जा थल कीन्हें विहार अनेकन,
ता थल काँकरी बैठि चुनो करैं॥
नैनन में जो सदा रहते,
तिनकी अब कान कहानी सुनो करैं॥"

एक प्रेमिका ज्योतिषी को बुलाकर सन्देह से पूछती है—

"मेरो मन मोहन ते लागत है बार बार,
मोहन को मोसों मन लागि है बिचारौ तो।

'रामसेवक'

बहुतेरे प्रेमी तो वियोग के भय से काँप जाते हैं। वे अपना शरीर विनाश करने तक को प्रस्तुत हो जाते हैं। वे कातरता से उस स्थान पर पहुँचना चाहते हैं, जहाँ

वियोग की कोई आशङ्का न हो। प्रति-दिन ज्वाला की ताप वे सहन नही कर सकते।

"साँझ भई दिन अथवा, चकई दीन्हाँ रोय।
चल चकवा वा देश को जहाँ रैन नहिं होय॥
'जायसी'

उन्हें न हँसना आता है और न रोना—

"हँसौ तो दुःख ना बीसरै, रोवहिं बल घटि जाय।
मन ही माँहि बिसूरना, ज्यों घुन कालहिं खाय॥"
"कबीर'

बात यह है कि चाहे काशी में करवत लीजिये चाहे खाल खिचवा कर प्रियतम के लिये जूती बनवा रखिये, वह शीघ्रता से रीझता नहीं है। उसे मनवाने की आदत है। इसी से साधारण प्रेमी ऊब कर थक जाते हैं। परन्तु क्या सच्चे प्रेमी प्रियतम के इस अवगुण का ध्यान करते हैं? क्या उसकी यह बेवफ़ाई उन्हें प्रेम-पथ से भ्रष्ट करती है? कदापि नहीं—

"मनि बिनु फनि जल-हीन मीन तनु त्यागहिँ।
सो कि दोष गुन गनहि जो जेहि अनुरागहिँ।"
'तुलसी-पार्वती-मंगल'

प्रेमी तो प्रियतम की उपेक्षा की ओर ध्यान ही नहीं

देगा । वह तो दर्शनों के लिए रोया करेगा । उसी में उसे आनन्द है । यदि उसे रोना न आवे तो शायद वह अपनी आँखें भी फोड़ ले । भारतेन्दु जी की विनय है—

"फूट जायँ वे आँखें,
जिनमें बँधा अश्क का तार न हो ।'-

और—

"बावरी वे अँखियाँ जरि जाहिं जो,
साँवरे छाँड़ि निहारत औरहिं ।"

जब प्रेमी अपने नेत्रों को ही बेवफाई के कारण विनाश कराने को प्रस्तुत है, तो शेष ही क्या रहा । प्रेमी के लिए नेत्र बहुत ही उपयोगी हैं । वह सारे शरीर का विनाश देख सकता है, परन्तु नेत्रों का नहीं; उसे उनमें दर्शन होता है ।

"विरह कमण्डल कर लिए, बैरागी दो नैन ।
माँगे दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन ॥"

'कबीर'

इसीलिए तो एक प्रेमिका काग से विनय करती है—

"कागा नैन निकास दूँ, पिया पास लै जाय,
पहिले दरस दिखाय कै, पीछे लीजै खाय ।"

'मीरा'

दर्शन की लालसा ऐसी ही है। दर्शन न मिलने से शरीर का ह्रास अवश्य ही है। रामायण में तुलसी दास जी सीता के शरीर के सम्बन्ध में लिखते हैं कि उनकी 'कँगुरिया' की मुन्दरी 'कंकन' हो गयी है। यह क्यों न सीता जी के लिए तुलसीदास जी लिखें जब वह स्वयं रामचन्द्र जी को भी जङ्गल में धूप में चलते देखना पसन्द नहीं करते और मेघों को अपनी सहायता के लिये बुला-कर लिखते हैं—

"जहँ जहँ राम लखन सिय जाहीं, करँ मेघ तहँ तहँ परछाँही।"

और रामचन्द्र जी का रूप देखने के लिये सीता को इतना विह्वल कर देते हैं कि—

राम को रूप निहारत जानकी,
कंकन के नग की परछाँहीं
ताते सबै सुधि भूलि गई,
कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

जब जानकी निराश होकर विरह-सागर में डूबने लगीं उस समय का चित्र जानकी-मङ्गल में देखिये—

होति विरह-सर मगन देखि रघुनाथहि;
फरकि-बाम-भुज नयन देहिं जनु हाथहिं।

'तुलसी'

यह वाम नयन भुजा को फड़काने वाला कौन है ? वही सच्चा प्रेम, प्रेम छिपाये छिप नहीं सकता—

प्रेम छिपाए ना छिपै, जा घट परघट होय;
जो पै मुख बोलै नहीं, तो नैन देत हैं रोय।

'कबीर'

प्रेम का बड़ा सुन्दर चित्र तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में सुतीक्ष्ण की भेंट के समय खींचा है। सुतीक्ष्ण अगस्त्य ऋषि का शिष्य है। उसे अपने प्रेम की परिपक्वता में सन्देह हो जाता है। रामचन्द्र जी उधर से निकल रहे हैं। उसे भय होता है कि सम्भवतः वे उसे दर्शन न दें। वह दौड़ कर उनसे मिलने के लिये आगे आता है। उसके पागलपने की हालत तुलसीदासजी बतलाते हैं—

दिशि अरु विदिश पंथ नहिं सूझा,
को मैं, कहाँ चलेउँ, नहिं बूझा।
कबहुंक फिरि पाछे पुनि जाई,
कबहुँक नृत्य करै गुन गाई।
मनि मग माँहि अचल ह्वै वैसा,
पुलक शरीर पनस-फल जैसा।

इतने में श्रीरामचन्द्रजी वहाँ आ गये और उसे मार्ग में

पड़ा देख जगाने लगे। परन्तु—

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा,

जाग न ध्यान-जनित सुख पावा।

ध्यान-जनित रूप के दर्शन में वह मस्त हो गया। वह तो इस रूप के लिये 'नेह गेह सब तृण सम तोरे' था। शीघ्र ही उसके हृदय में चतुर्भुज-रूप के दर्शन श्रीरामचन्द्र जी ने कराये और वह विकल होकर उठ बैठा। उसे उस रूप का अभ्यास न था। सामने श्रीरामचन्द्र जी को देख कर चरणों पर गिर पड़ा।

वास्तविक लगन इसे कहते हैं। प्रेम यही है। प्रेम का दीवाना घायल की भाँति घूमता है। भक्त-प्रवरा मीरा बाई का हाल सुनिये—

"खिन मन्दिर खिन आँगने रे, खिन-खिन ठाड़ी होय,

घायल ज्यों झूमूं खड़ी, म्हारी बिथा न पूछे कोय।"

और अपनी 'बिथा' दूर करने के लिए प्रियतम के पास कौवे से सन्देशा भेजती हैं—

"काढ़ि करेजो मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाय,

जा देसाँ म्हारो पिव बसे, वे देखत तू खाय।"

ये वही मीरा बाई हैं जो अपने प्रेम की शिकायत करते हुए कहती हैं—

जो मैं ऐसा जानती, प्रेम करे दुख होय ।
नगर ढिँढोरा पीटती, प्रेम करे जनि कोय ।

कितना सुन्दर व्यङ्ग है। कितनी मीठी चुटकी है! सब सन्त-प्रेम की कठिनता का अनुभव कहते हैं; परन्तु प्रेम करना नहीं छोड़ते। रैदास जी कहते हैं—

कहे कलाली प्याला देऊँ, पीवनहारे का सर लेऊँ ।

परन्तु फिर भी सब सर कटाने के लिए होड़ा-होड़ी करते हैं। चरन दास जी के ये वाक्य सुनिये—

चरन सोइ जो नवत प्रेम से, कर सोई जो पूजा;
सीस सोइ जो नवै प्रेमि को, रसना और न दूजा ।

ये भक्त चौबीसों घण्टे अपने प्रियतम के दर्शनों में मस्त रहते हैं। क्योंकि—

यह तन वह तन एक है, एक प्रान हुइ जात;
अपने जिय से जानिए, मेरे जिय की बात ।
'कबीर'

कबीर और सूरदास की हालत देखिये—

नाहिन रह्यो मन में ठौर ।
नंद-नंदन अछत कैसे आनिए उर और ।
चलत चितवत दिवस जागत स्वप्न सोवत रात;
हृदय में वह स्याम मूरत, छिन न इत उत जात ।

कहत कथा अनेक ऊधो, लोक-लाज दिखात,
कहा करौं तन प्रेम पूरन, घन न सिंधु समात ।

इसीलिये तो उन्हें विश्वास है कि घूँघट के पट खोलने से राम अवश्य मिल जायँगे। यह प्रेम दैवी है। यह प्रेम गुरु है। यही प्रेम ईश्वर है।

"God is love and love is God."

भक्त प्रवर दादू दयाल जी कहते हैं—

"इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग,
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग।"

जहाँ किसी ने इस प्रेम-प्याले का पान किया कि वह जीवन्मुक्त हो गया। प्याले पर प्याला पीजिये, परन्तु प्यास नहीं जाती। धरनी दास जी का कथन है—

"धरनी पलक परै नहीं, पिय की झलक सोहाय,
पुनि पुनि पीवत परम रस, तबहूँ प्यास न जाय।"

"आव बगूला प्रेम का तिनका उड़ा अकास,
तिनका तिनका सो मिला, तिनका तिनके पास।"

'कबीर'

परन्तु इस प्रेम के नशे का प्रभाव ही कुछ और है। यह दैवी है और सांसारिक वासनाओं को दूर करने वाला है।

"मन पँछी तब लग उड़ै, विषम-वासना माँहिं,
प्रेम बाज की झपट में, जब लगि आयो नहिं।"
'कबीर'

मलिक मुहम्मद जायसी का कहना है—
प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि छावा,
दूसर बेलि न सँचरै पावा।"

यही कारण है कि सन्त लोग प्रेम करते हैं। विषयों से बचने का यह सबसे बड़ा साधन है। एक बार आप प्रेमाक्रान्त हुए बस आप को सांसारिक वासनाओं के सोचने का अवकाश कहाँ? दुनिया के झंझटों में पड़ने को आपके पास समय कहाँ? प्रेम की प्रचण्ड वायु में वासना के बुदबुदे कहाँ ठहर सकते हैं? प्रेमी के जीव तक को शरीर में रहने की फुरसत नहीं, फिर वासनाएँ उसका क्या बिगाड़ सकती हैं। कबीर दास जी का कथन है—

"विरह तेज मन में तपे, अंग सबै अकुलाय।
घर सूना जिव पीव में मौत ढूँढ़ि फिरि जाय।"

जब मौत तक को पता नहीं, तो वासनाएँ बिचारी उसका क्या बिगाड़ सकती हैं? हाँ, जो व्यक्ति एक समय अपने को प्रेम परिप्लावित प्रदर्शित करता है और दूसरे

समय उसमें छोह का छींटा भी नहीं दिखाई देता उसकी गणना इन सच्चे प्रेमिकों में नहीं है। वह व्यक्ति गिर-गिटान के तुल्य है। उसकी बहिराकृति से धोखा न खाना चाहिये। दरिया साहब उसकी परख बतलाते हैं—

"दरिय बगुला ऊजला, उज्जल ही है हंस,
ये सरवर मोती चुगैं, वाके मुख में मंस।"

'मुख में मंस' कैसी सुन्दर व्याख्या है। संसार के कामियों को इस सम्बोधन से लज्जित होना चाहिये और सच्चे प्रेम का सबक़ सीखना चाहिये। परन्तु इन दुष्टों के हृदय में प्रेम-सञ्चार नहीं हो सकता। वे तो वासना की नासिका लिये हुये श्वान की भाँति मृद्भाण्ड में जूठा चुराने के लिये इधर-उधर भ्रमण करते हैं। आज उन्होंने एक स्थान का भोजन स्वाद युक्त समझ कर ग्रहण किया। कल उसे छोड़ दिया और दूसरे बर्तन में मुंह डाला। ये व्यक्ति जीते हुए भी सद्विचारों के लिए हृदय हीन हैं। इनका उद्धार कठिन है—

"सिंह साधु का एक मत, जीवत ही को खाय
भाव हीन मिरतक दसा, ताके निकट न जाय।"

'कबीर

प्रेमी का अर्थ ऐसे जीवित श्मशानों से हमारा अभि-

प्राय नहीं। हमें तो प्रेम करने और निबाहने वाले से अभिप्राय है। यह बड़ा कठिन है।

"अगिनि आंच सहना सुगम, सुगम खड्ग की धार,
नेह निबाहन एक रस, महा कठिन व्योपार।"

'दूलनदास,

परन्तु आवश्यकता है, एक बार प्रेम की चिनगी सुलगाने की, हृदय में उसे प्रज्वलित करने की और उसके लिये पवित्रता की वेदी बनाने की। उसे जीवित रखने के लिए एकाग्रता का योग करना पड़ता है। उसमें आत्मीयता की आहुति देनी पड़ती है। प्रियतम के निवास के लिये स्थान परिस्कृत करना पड़ता है। कपाट खोलने पड़ते हैं। तभी प्रिय मन-सदन में आ सकता है। फिर जहाँ एक बार आ गया, सो आ गया। फिर क्या है-

"नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय,
पलकों की चिक डारिकै, पियको लिया रिझाय।"

'कबीर'

इसी लिये तो मसखरे भक्त नागरीदास कह डालते हैं—

"कजरारी अखियन में बसो रहै दिन रात,
प्रीतम प्यारो हे सखी, ताते सांवरु गात।"

कुछ भी हो प्रियतम के बसने के कारण नेत्रों में काजल और नींद नहीं प्रवेश कर सकते हैं। और वास्तव में काजल और नींद कहां बसे—

नैना मांही तू बसै, नींद की ठौर न होय।

'सहजोबाई'

कबीर रेख सिन्दूर अरु, काजर दिया न जाय;
नैनन प्रीतम बसि रह्यों, दूजो कहाँ समाय।

प्रियतम को ऐसी दृढ़ता से बिठाया है कि वह टस से मस नहीं हो सकता। उसको प्रेमी क़ैद में रखना चाहता है और यही कहता भी है—

नैनो अंतर आव तू, नैन झांपि तोहि लेउँ;
ना मैं देखौं और को, ना तोहिं देखन देउँ।

'कबीर'

परन्तु इस बन्धन में पड़ने का उन्हें भी शौक़ है। इसीलिये वे इस बन्धन को स्वीकार करते हैं। वे स्वयं कहते हैं-

नाहं वसामि बैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च;
यत्र गायन्ति मद्भक्तास्तत्र तिष्ठामि नारद।

अतएव एक बार मिल भर जायँ, फिर, प्रतापनारायण-जी के अनुसार

किसी की पर्वा नहीं रहीं, सबसे छूटा नाता।

फिर किसकी परवाह रहे। फिर किसके नाते की आवश्यकता है। जब बड़ा नाता स्थापित हो गया, तो किस नाते की आवश्यकता रही। यहाँ तक कि प्रियतम को भी पत्र लिखने की आवश्यकता नहीं रही। चारों ओर प्रियतम-ही-प्रिययम दिखलाई पड़ रहा है।

प्रियतम को पतियाँ लिखूँ ' जो कहुँ होय बिदेस ;
तन में मन में नैन में, ताको कहा संदेश।

दरिया साहब'

यहाँ तो 'देखत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' की बात है। कबीरदासजी का कहना है-

'तू तू करता तू भया तुम में रहा समया ;
तुम माही मन मिल गया, अब कहुँ अनत न जाय।

इस अनवरत रटन से क्यों न एकीकरण हो, एक साधारण कीट को निष्प्राण कर के प्रतिदिन रटन बाँध-कर भृंग उसे सजातीय कर लेता है। इसीलिये तो यह आश्चर्य है—

बुंद समुद्र समान, यह अचरज कासों कहों ?
हेरनहार हेरान, अहमद आपुहि आपु में।

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराय।
समुद समाना बुंद में, सो कत हेरा जाय।
बुंद समानों समुद में, यह जानै सब कोय ;
समुद समानों बुंद में, बूझै बिरला कोय।

क्योंकि—

अंक भरी भर भेंटिये, मन नहि बाँधे धीर।
कह कबीर ते क्या मिले, जब लग दोय शरीर।

इस शरीर के द्वितीयत्व के विनाश के लिये हेरनहार को हेराना पड़ता है। प्रत्यक्ष में यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि इस छोटे से 'बुन्द' में समुद्र विलीन हो गया। परन्तु प्रेम-तत्व के पण्डितों के सामने कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'बुन्द' ने तो प्रेम ही की बदौलत अपना इतना बृहद् विकाश कर लिया था कि समुद्र में और उसमें कोई अन्तर ही न रहता था। फिर आश्चर्य की क्या बात? प्रेम भी एक बड़ा भारी योग है। तभी यह दशा प्राप्त हो सकती है! इसीलिये एक सन्त ने कहा है—

प्रेम बराबर जोग नहिं, प्रेम बराबर ज्ञान।

'चरणदास'

जिस प्रेम से अभीष्ट का साक्षात् हो, उसके सदृश

और कौन वस्तु हो सकती है। ज्ञान उसकी तुलना कैसे कर सकता है। प्रेमी के लिये नेम कैसे लागू हो सकता है।

> प्रेमी से नेमी कहै, तू नहिं साधे नेम ;
> शंभू सो नेमी नहीं, जाके नेम न प्रेम।

क्योंकि—

> प्रेम-दिवाने जो भये, जाति बरन गइ छूट ;
> सहजो जग बौरा कहे, लोग गए सब फूट।
> प्रेम-दिवाने जो भये, नेम-धरम गए खोय ;
> सहजो नर बौरा कहै, वा मन आनँद होय।

'सहजो बाई'

एक दूसरे सन्त भी इस प्रकार की भाव-मन्दाकिनी में विहार करते हैं—

> जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न जग-व्यवहार ;
> प्रेम-मगन सब जग भया, कौन गनै तिथि वार।

'कबीर'

वास्तव में प्रेम करने के लिये साइत विचारने की आवश्यकता नहीं है। प्रेम किन्हीं बाह्य भौतिक आश्रयों पर आश्रित नहीं है। इच्छा की पूर्ति के साथ उसका अन्त नहीं होता।

With dead desire it does nor die,

'Scott'.

जो प्रेमी रूप में मगन है, उसे नेम जानने की फुरसत कहाँ? जो प्रेम के नशे में चूर है, उसे बाहर आँख खोल कर देखने की सावधानी कहाँ?

मन मस्त हुआ तो को बोलै ?

घर में ही दिलदार मिला, तो बाहर अँखियाँ को खोलै।

'शंभु'

कहूँ धरत पग परत कहुँ डगमगात सब देह ;

भए मगन हरि-रूप में, दिन-दिन अधिक सनेह।

'पलटूदास'

बिलक्षण दशा है आनन्द-ही-आनन्द है, परन्तु किसको यह विचारणीय है। कबीरदासजी कहते हैं—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं ;

प्रेम-गली अति साँकरी, जामें दुइ न समाहिं।

वास्तव में जब तक अहमत्व अथवा अहं-भाव रहता है तब तक दूसरे की गुजर नहीं। अपः विनाश करने पर ही गुरु के दर्शन होते हैं। स्वामी रामतीर्थ जी कहते हैं—

वे अपनी हस्ती मिटा चुके हैं।

ख़ुदा को ख़ुद ही जो पा चुके हैं।

यह भी इसी भाव का परिचायक है । इसीलिये उन्हें परियों और हूरों या क़ाबे और मन्दिर से कोई प्रयोजन नहीं वे तो प्रेम-पथ के सच्चे पथिक हैं। वे उन व्यक्तियों की भाँति नहीं हैं, जिनके प्रेम से भरे हुये करुण-आलाप का प्रियतम पर कोई प्रभाव-नहीं होता । और उनका प्रतिघात प्रेमी के हृदय पर वज्राघात होता है । उन्नति रुक जाती है। उसकी बढ़ी हुई आत्मा जो आह्लाद के ज्वार से बढ़कर विश्व को व्याप्त कर लेना चाहती थी, निराशा के प्रतिघात से पङ्गु हो जाती है। कुछ ऐसे भी अर्ध-भाग्य-शाली व्यक्ति हैं, जिनके प्रियतम वक्षःस्थल में या पीठ पर प्रेम-शर अवश्य स्वीकार करते हैं; परन्तु यदि प्रेम में बल है, तो कभी न-कभी उसे अपना वक्षःस्थल समक्ष करना ही पड़ेगा । यदि वह आत्म-विनाश करने का वास्तविक रहस्य समझता है तो उसका कार्य अवश्य पूरा होगा। आत्म-विनाशी प्रेमी के इश्क़ में इतना बल होता है कि वह माशूक को भी आशिक़ बना लेता है । दादूजी की वाणी इस सम्बन्ध में कितनी सुन्दर है—

आसिक मासुक ह्वै गया,

इसक कहावै सोय ।

वास्तव में इश्क़ यही है और सब ढोंग है । वह इश्क

इश्क़ ही नहीं, जो माशूक के हृदय में इश्क़ पैदा न कर दे। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य में जितनी सुन्दर कथाएँ हैं, उनमें दोनों ओर के प्रेम का सादृश्य है।

इसके पश्चात् वक्ता महोदय बैठ गये। इस व्याख्यान को लगभग एक घण्टा लगा। बीच में कई बार कर-तल ध्वनि हुई। व्याख्यानदाता अधिकतर मेरी ही ओर देख कर सम्भाषण करते थे। ऐसा मालूम होता था कि सारा व्याख्यान मेरे ही लिए दिया जा रहा है। व्याख्यान समाप्त होने पर सभापति ने यह सूचना दी कि जो सज्जन चाहें, इस भाषण के सम्बन्ध में वक्ता महोदय से प्रश्न कर सकते हैं। झट खड़े होकर मैंने पूछना प्रारम्भ किया।

प्रश्न—क्या मुझे वक्ता महोदय यह बतलाने की कृपा करेंगे कि प्रलय और विकास प्रेम में, दोनों एक साथ कैसे सम्भव हैं?

उत्तर—इसका उत्तर तो अधिक कठिन नहीं है। प्रेमी सर्वत्र अपने प्रियतम को ही देखता है। उसे और कुछ नहीं दीखता। सारा संसार प्रेमी के लिए प्रलय-प्राप्त है। उसके स्थान पर विश्व-व्यापी प्रियतम की आकृति को ही वह देखता है। वह अपने को भी उसी में लय

पाता है। ज्यों-ज्यों संसार का ह्रास होता जाता है त्यों-त्यों प्रियतम का विकास बढ़ता जाता है। बस, यही प्रलय और विकास का रहस्य है।

प्रश्न—क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि पार्थिव शरीर किस प्रकार प्रेम से सूक्ष्म हो सकता है?

उत्तर—मेरे निकट प्रकृति और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। मेरी यह धारणा है कि जड़ प्रकृति के प्रत्येक परिमाणु में ब्रह्म का अश निहित है। प्रेम के अतिरेक में ओत-प्रोत करने वाली कल्लोलकारिणी प्रियतम और प्रेमी की आत्माएँ प्रकृति के जड़त्व का प्रतिरोध अनुभव करके उसे नष्ट करने का प्रयत्न करती हैं और यह निरन्तर चेष्टा जड़त्व को सूक्ष्मता की ओर अग्रसर करती है; अर्थात् निहित ब्रह्म अपने को अधिक-अधिक अनुभव करने लगता है। वर्तमान युग में विज्ञान् यह कहता है कि यह जगत् केवल कम्पन मात्र है। जगत् का प्रत्येक अणु बड़े वेग से कम्पायमान हो रहा है। हमारे ऋषि-मुनियों का भी यही कहना है। जगत् शब्द ही स्फुरण, स्पन्दन और कम्पन का द्योतक है। जब हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को तीव्र कर सकेंगे तब इन सूक्ष्म कम्पनों का भी प्रत्युत्तर दे सकेंगे।

प्रश्न—भक्ति और प्रेम में क्या अन्तर है ?

उत्तर—आप का प्रश्न कुछ अस्पष्ट सा है। सम्भवतः आप यह जानना चाहते हैं कि किसी के मानसिक अथवा हार्दिक गुणों के बाहुल्य से जो श्रद्धा-जनित-प्रेम उत्पन्न होता है उसमें और केवल शारीरिक सौंदर्य-जनित प्रेम में क्या अन्तर होता है।

प्रश्नकर्ता—जी हाँ। और क्या दोनों मार्गों से मुक्ति उपलब्ध होती है ? और क्या दोनों प्रेमों के अतिरेक की दशा में कोई अन्तर नहीं ?

उत्तर—मेरी यह धारणा है कि यदि सौंदर्य-प्रेम की आधार शिला केवल वासना-तृप्ति ही न रह जाय तो वह भी बड़े उच्च कोटि के प्रेम में परिणत हो सकता है। परन्तु बड़ी जागरूकता की आवश्यकता है।

प्रश्न—प्रेम लिङ्ग-भेद तथा आयु की अपेक्षा नहीं करता इससे आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मेरा केवल यह अभिप्राय है कि प्रेम बाह्य परिस्थितियों पर अधिक अवलम्बित नहीं; और न वे सच्चे प्रेम प्रस्रोत का मार्ग ही अवरुद्ध कर सकती हैं।

प्रश्न—आपने अपने भाषण में यह कहा था कि प्रेम नेम और जग-व्यवहार की उपस्थिति स्वीकार नहीं

करता क्या आपकी यह धारणा है कि प्रेम ज्ञान के प्रति-कूल है ?

उत्तर—सम्भवतः आप मेरे अभिप्राय को पूर्ण रूपेण अवगत नहीं कर सके। मेरा अभिप्राय केवल सामाजिक बन्धनों और व्यावहारिक शृङ्खलाओं से था। प्रेम के विकास में यदि उपर्युक्त प्रतिबन्ध उपस्थित हों तो उन्हें गौण व्यावहारिक उपकरण समझकर उनकी परवाह न करनी चाहिये। जिस प्रकार के ज्ञान से आपका अभिप्राय है उसकी उपेक्षा तो सन्तों ने भी नहीं की है। अन्यथा प्रेम के दुरुपयोग से अपनी इन्द्रियों को अधोमुखी करके सच्चे मुक्ति के मार्ग से और भी दूर हो जाते। कबीरदास की उक्ति इस स्थान पर विचारणीय है। उन्होंने ज्ञान के सम्बन्ध में कहा है—

"कबिरा घोड़ा प्रेम का, चेतन चढ़ि असवार।
ज्ञान खड्ग लै काल सिर, भली मचाई रार॥"

प्रश्न—आपके भाषण से यह ध्वनि निकलती थी कि जो व्यक्ति संसार में नित्य नये प्रियतम का अन्वेषण कर प्रेम करता है उसका प्रेम आदर्श प्रेम नहीं कहा जा सकता वरन् वह वासना-जनित प्रेम है। इसके सम्बन्ध में आपके पास कौन से प्रमाण हैं ? जब एक प्रियतम द्वारा

मुक्ति मिल सकती है तो अनेक से भी मिल सकती है।

उत्तर—इस प्रकार प्रेम करना प्रेम के मूल तत्व के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है। वही लोग यत्र-तत्र प्रियतम ढूँढ़ते हैं, जिन्हें एक प्रियतम से सन्तोष नहीं होता। उनका सन्तोष वाह्य सौन्दर्य अथवा उपयोगिता पर स्थित रहता है। अतएव, उसी के अनुसार वे अधिक उपयोगी प्रियतम की खोज में नित्य परिवर्तन किया करते हैं। इन्द्रिय-सुख ही इसका मूल कारण है। उनकी वृत्तियाँ वहिर्मुखी रहती है। अतएव वास्तविक मुक्ति का आनन्द इन्हें उपलब्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब दो आत्माएं प्रेम-पाश द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं, तो दोनों की उन्नति होती है; यह बात मेरी समझ में नहीं आती, कृपया समझा कर कहिए।

उत्तर—यह बात तो वास्तव में अनुभव करने की है। भौतिक पदार्थों की तुलना ठीक-ठीक अर्थ स्पष्ट न कर सकेगी। परन्तु थोड़ा बहुत समझ में अवश्य आ जायगा। आप साधारण प्रकार से देखते हैं कि दो पृथक्-पृथक् जलती हुई बत्तियाँ उतना अधिक प्रकाश नहीं कर सकतीं जितना वे एक साथ मिलकर जलाने पर कर सकती

हैं। एक लैम्प को जलाकर जब आप शीशे के समक्ष रखते हैं तो लैम्प का प्रकाश दूना हो जाता है और दर्पण भी दुगुने प्रकाश से चमकने लगता है।

प्रश्न—पाप की क्या परिभाषा है?

उत्तर—मेरे निकट पाप वह है जिससे आत्मा की उन्नति तथा उसके विकास में रुकावट पड़े। और पुण्य-कर्म वे हैं जो उसकी उन्नति में सहायक हों। समय परम्परा, वंश-परम्परा और समाज-परम्परा ने बहुत से ऐसे कर्मों को भी पाप समझ रखा है जो केवल समाज को सुचारु रूप से नियन्त्रित रखने वाले नियमों के प्रतिकूल हैं बहुत बार ऐसी स्थिति आ जाती है जब इनकी रक्षा करने में पाप और उन्हें तोड़ने में पुण्य होता है।

प्रश्न—मुक्ति से आप का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—आत्म-ज्ञान को ही मैं मुक्ति समझता हूँ और यह प्रेम द्वारा ही अधिक सुगमता के साथ सम्भव है।

प्रश्न—अब मुझे कुछ और बातें पूछनी हैं। क्या किसी व्यक्ति का वासना-जनित प्रेम सच्चे प्रेम में परिवर्तित हो सकता है और उसे सच्चे प्रेम का स्वाद मिल सकता है?

उत्तर—अवश्य। केवल एक बार प्रे. सम्बन्धी

वास्तविक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने की आवश्यकता है। वासना जनित प्रेम से सच्चा प्रेम हो जाना सम्भव भी है। परन्तु ज्ञान-तन्तुओं के विकसित होने की आवश्यकता है। संसार में बहुत से ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं जिनके नेत्र सांसारिक प्रेम ही द्वारा अन्त में खुले हैं और उन्हें मुक्ति मिली है।

प्रश्न—परन्तु एक ज्ञानी भी पाप-कर्म कर सकता है।

उत्तर—कभी नहीं। सम्भवतः ज्ञानी की परिभाषा में आपको भ्रम है। ज्ञानी की परिभाषा यूनानी दार्शनिक सुकरात ने अत्यन्त स्पष्ट की है। यह नहीं है कि उसे केवल पाप पुण्य अच्छे-बुरे की जानकारी हो, प्रत्युत जानकारी के साथ साथ पुण्य की सद्भावना से अच्छे अच्छे कार्य करे और बुरे कर्मों का परित्याग करे। Knowledge is virtue का यही अभिप्राय है।

इस प्रश्न के करने के बाद ही सभापति ने आदेश दिया कि अब अधिक प्रश्न नहीं किये जा सकते। मैं शान्त होकर अपने स्थान पर बैठ गया। वक्ता महोदय मेरा परिचय प्राप्त करने लगे। सभा विसर्जित होने पर वे मन्च से उतर कर मेरे निकट आये। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ कर मेरे कन्धे पर अपना दूसरा हाथ रखा। मैं इस

विद्वान से बातें करता-करता एक वृक्ष के निकट आया। हम दोनों बैठ गये। मुझे व्याख्यान का प्रमाद इतना अधिक चढ़ गया था कि अपने को एक दूसरे लोक में अनुभव करने लगा। नेत्रों के समक्ष का दृश्य स्वप्न-सा दीखने लगा। मुझे औंघाई आने लगी। इस थोड़े से समय में ही मैं वक्ता महोदय से इतना परिचित सा हो गया कि मानों ये मेरे सदा के मित्र हैं। बड़े भाई से भी अधिक मुझे इनके प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हो गयी। मैं इनके अङ्क पर सिर रखकर सो गया। सावधान होकर मैंने देखा कि उस वक्ता के स्थान पर वही मेरा पुराना अवधूत शिष्य है। मैंने झट उठकर उससे पूछा कि इतने दिनों तक तुम कहाँ रहे। वह कुछ न बोला। फिर मैंने पूछा कि क्या अभी तुम्हीं ने व्याख्यान दिया था। उसने कहा, आप क्या समझते हैं ? मैंने पूछा तुझे इतना ज्ञान कहाँ से आ गया! इतना कहकर मैंने उसके पैर पकड़ने चाहे किन्तु उसने मेरे हाथ पकड़ लिये।

मेरे नेत्रों में आंसू बहने लगे। मेरा गला रुँध आया। मैंने कहा मुझे इस महान आपत्ति से बचाइये। बहुत दिनों से वाटिका में हूँ। मुझे इधर-उधर घूमते घूमते बहुत कष्ट अनुभव हुआ है। मुझे कोई भी विश्वासी साथ

नहीं मिला । संसार अविश्वासियों का स्थान है । यहाँ कोई सच्चा व्यक्ति नहीं। मेरा अपमान हुआ है। मेरे प्रेम का किसी ने प्रत्युत्तर नहीं दिया । वह ठुकराया गया है। क्यों न विनाश करके उनसे मुँह छिपा लिया जाय ? इतना कहते कहते मेरा गला अवरुद्ध हो गया। अश्रुधारा बह उठी। मैं संज्ञा-हीन हो गया। संज्ञा प्राप्त करने पर फिर शिष्य को निकट उपस्थित देखकर लज्जा सी आयी। यह निश्चय हो चुका था कि संसार सर्वथा निर्दयी व्यक्तियों का निवास स्थान है !

हम दोनों उठकर चले । आगे वही पुराना पँचराहा मिला। यहाँ फिर प्राचीन भावनाएँ जागरित हो उठीं। प्रतीत होने लगा कि मैं बड़ी भूल में पड़ गया था। अपना धर्म भूल गया था। न मालूम किस मार्ग की ओर चल दिया था। मैंने अवधूत शिष्य से प्रश्न किया कि भला मेरा कल्याण कैसे होगा । मैं तो बड़े अन्धकार में पड़ गया था। उसने नम्र स्वर से उत्तर दिया। गुरू जी, कहना तो आपका नितान्त सत्य है । यह पाप तो प्रायश्चित से ही दूर हो सकता है। शुद्ध हृदय से आप अपने किये का पश्चाताप कीजिये । मुझे बड़ी ग्लानि हुई। मन में सोचने लगा कि शुद्ध हृदय तो है ही नहीं-

पश्चाताप कैसे किया जाय। चित्त घबड़ाने लगा। ऐसा प्रतीत होने लगा कि जितनी सुन्दरियों ने मुझे छला है, वे सब डाकिनी थीं। इसका पूर्ण प्रायश्चित तो शरीर विनाश से हो सकता है। इस धारणा से मैंने अपने जेब से झट एक चाकू निकाला और उसका उपयोग अपनी ग्रीवा पर करने ही वाला था कि अवधूत ने मेरा शस्त्र पकड़ लिया। इस लपा झपी में मेरी एक उँगली कट गई। इसी की पास वाली एक उँगली पूर्व ही कट चुकी थी। अवधूत झट बोल उठा, 'बस प्रायश्चित हो गया'। मैं शोकाक्रान्त होकर भूतल पर गिर पड़ा।

मेरी अचेत अवस्था में ही मेरे शिष्य ने उँगली की मरहम पट्टी कर रखी थी। ससंज्ञ होकर मैं फिर रोने लगा। उसने मुझे बहुत धैर्य दिया। मुझसे यह भी कहा कि आपने पर्य्याप्त प्रायश्चित कर लिया है। अपने आदर्श का स्मरण रखिये। वही आपकी रक्षा करेगा। आप यदि इस फेर में रहेंगे कि आपके आदर्श में आपको सब गुण ही गुण देख पड़ें तो आप किसी को अपना आदर्श अथवा गुरु न बना सकेंगे। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति में गुण-दोष के परखने की योग्यता नहीं होती और हम लोगों के गुण-दोष की माप

भी परम्परागत और प्रासङ्गिक है। उसमें ध्रुव सत्य की बात सोचना भ्रम है। फिर मानव देहधारी आदर्श मानव दुर्बलताओं से सर्वथा छूट नहीं सकते—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

अतएव, उन दुर्बलताओं को देख कर आदर्श का पुनः पुनः परित्याग करने के लिये लोग विवश होते हैं। अपने को तो दोष-गुण जानने की चिन्ता ही नहीं करना चाहिये। यदि आप एक आदर्श रखें जिससे आप सबसे अधिक प्रेम करें तो आप पतन से बचेंगे। पतन के समय आपके आदर्श की स्मृति घसीट कर ऊपर की ओर आपको आकृष्ट कर लेगी। आप वासना के फन्दे से बच जायेंगे।

मैंने इन बातों को सुनकर कहा, "ऐसा ही करूंगा। आपसे अच्छा कौन आदर्श मिलेगा।" शिष्य झट कह उठा, "नहीं मैं तो आपका शिष्य हूं मुझे तो आपसे सीखना है।"

अब कुछ क्षुधा मालूम होने लगी थी। हम दोनों एक सुन्दर झरने के निकट गये। अवधूत ने अपने पिटारे से दिव्य भोजन निकाल कर दिये। हम दोनों ने ख़ूब

खाया। अवधूत ने मुझे स्मरण दिलाया कि जब आप फिर कुमार्ग-गामी होंगे तब आपकी कटी हुई उँगली आपको आपका मार्ग बतला देगी। हम लोग एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। शीतल वायु ने मुझे निद्रित कर दिया। जागकर मैंने देखा कि अवधूत कहीं न था।

मैंने फिर प्रयाण करने का प्रयत्न किया। बहुत देर तक कोई मार्ग निश्चय न कर सका। हृदय में मानव समाज के प्रति क्रोध अङ्कुरित हो चुका था। यह विचार बँध गया कि मानव समाज किसी भी सहानुभूति का पात्र नहीं। उसने मुझे बहुत छला है। उसने मुझे विफल किया है। मैं उससे कभी हिल-मिल कर नहीं रह सकता। यही सोचता हुआ मैंने उस मार्ग से जाना निश्चय किया जो नितान्त निर्जन हो। यह विचार कर बाईं ओर का एक मार्ग ग्रहण किया।

थोड़ी दूर चलकर मुझे एक मनुष्य आता दिखाई पड़ा। मैंने एक ओर हट कर निकल जाना चाहा। परन्तु इसने बल पूर्वक मेरा मार्ग घेर लिया। मैंने डाँट कर इससे मार्ग परित्याग करने का आदेश दिया। यह हँसकर बोला 'क्या आपने सारे मार्ग का पट्टा लिखा लिया है। मुझे

एक मित्र का धोखा हो गया था, इस लिये मैं इस प्रकार मार्ग में खड़ा हो गया था।" उसके वाक्य का पूर्व भाग सुन कर मैं इतना क्रुद्ध हो गया कि अंतिम वाक्य सुने बिना ही मैंने उसके मुंह पर एक थप्पड़ रख दिया। वह लड़बड़ा कर पृथ्वी चूमने लगा। मैंने इतने में एक और ठोकर जमायी। उस बिचारे के मुँह से रक्त पात होने लगा। मुझे तनिक भी शोक न हुआ। उसके उठने की प्रतीक्षा न करके मैं वहां से आगे बढ़ा।

एक क्षण के लिये भी यह परिताप न हुआ कि मैंने अच्छा नहीं किया। निरन्तर यही विचार पुष्ट होने लगा कि संसार में शक्ति ही सब कुछ है। वही व्यक्ति संसार में रह सकता है जो दूसरे को अपनी कोहनियों के धक्के से पीछे हटाने की क्षमता रखता है। वही व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है जो जीवन-संग्राम के वातावरण पर विजय पा सके। उसी का सब भय मानते हैं और उसी का आदर करते हैं, जिसके बाहु-बल का आतङ्क लोगों पर जमा है। विज्ञान का भी यही मूल सिद्धान्त है। प्राणि शास्त्र की प्रवेशिका में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है। हमारे धर्म-शास्त्रों में भी इसी की चर्चा है। बल के बिना शरीर में तेज नहीं उत्पन्न होता। बल

का उपार्जन करना एक प्रकार का योग है जिसकी हम सब को आवश्यकता है। बल तभी उत्पन्न हो सकता है जब प्रतिकूल वायु-मण्डल को विजित किया जाय, रात-दिन के सङ्कर्षण में उसे परास्त किया जाय। इसी बलोपार्जित योग की प्रशंसा महाभारत के शान्ति पर्व में की गयी है। महाभारत में लिखा है—

यथा चानिमिषाःस्थूला जालं छित्वा पुनर्जलम्
प्राप्नुवंति तथा योगास्तत्पदं वीतकल्मषाः।
तथैव वागुरां च्छित्वा बलवन्तो यथा मृगाः
प्राप्नु युर्विमलं मार्गं विमुक्ता सर्व बन्धनैः।
लाभजानि तथा राजन् बन्धनानि बलान्विताः
छित्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम्।
अवलाश्च मृगाः राजन् वागुरासु तथापरे,
विनश्येत्ति न सन्देहस्तदवद्योग बलादृते।
बलहीनाश्च कौन्तेय यथा जालंगता झषाः,
मृतुंउ गच्छन्ति राजेन्द्र,योगास्तद्वत्सुदुर्वलाः।
यथा च शकुनाः सूक्ष्मं प्राप्य जालमरिन्दम,
तत्र सन्ता विपद्यन्ते मुच्यन्ते च बलान्विताः।
कर्मजैर्वन्धनै र्बद्धास्तद्वद्योगाः परन्तप,
अबला वै विनश्यन्तिमुच्यन्ते च बलान्विताः।

यह तो स्पष्ट ही है कि 'बलान्वित' ही इस संसार-पाश का समुच्छेदन कर सकते हैं। 'अबल' व्यक्तियों का विनाश नितान्त स्वाभाविक है। यदि अग्नि की छोटी सी चिनगारी से हमें विश्व अतिक्रान्त करना है तो पहले इसे यथेष्ट रूप से प्रदीप्त करना पड़ेगा। संसार में दबकर चलने से तेज का प्रादुर्भाव नहीं होता।

तद्द्जाल वलोयोगी, दीप्त तेज महावलः
अन्तकाल इवादित्यः, कृत्स्नं संशोषयेज्जगत् ।

अतएव बल ही सब कुछ है। दब जाना कायरता है। अहिंसा कायरता का दूसरा नाम है। अहिंसा की आड़ में कायर लोगों को अपनी निष्क्रियता और नपुंसकता छिपाने का अवकाश मिलता है। तेज के उपार्जन से ही मनुष्य में यह शक्ति उत्पन्न हो सकती है कि वह अपने को ही ब्रह्म समझने लगता है। इसी आत्म ज्ञान के साथ उसका ब्रह्म के साथ एकीकरण होता है। गीता में कृष्ण जी ने बहुत से स्थानों पर समझाया है कि संसार के सब से अच्छे प्रत्यक्ष पदार्थों में वे स्वयं विद्यमान हैं। यह तेजस्वी कृष्ण जी का हाल नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि श्रेष्ठ वासुदेव जी ने भी यह कहा है कि सूर्य में जो पुरुष प्रकाशमान है वह मैं ही हूं। इसके लिये

संसार में सङ्घर्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। सङ्घर्षण उत्पादित करके उसमें अपना बल दिखाने और दूसरों को परास्त करने में ही तेज का योग हो सकता है।

मार्ग में इसी प्रकार सोचता-सोचता मैं आगे बढ़ा। एक ओर बल का प्रदर्शन करने की अभिलाषा थी और दूसरा ओर मानव-समाज के प्रति घृणा अधिकाधिक बल पकड़ती जाती थी। बस, इन्हीं दोनों प्रचण्ड वायु के झोकों में मेरा मन इधर-उधर उड्डीयमान हो रहा था। शीघ्र ही सम्मुख से आता हुआ एक दरिद्र योगी दृष्टि गोचर हुआ। ज्योंही यह मेरे निकट आया; उसने बड़े वेग से अपना भोंपू बजा दिया। मैं चौंक उठा और तुरन्त ही उसकी धृष्टता के लिये उसे दण्ड देने को आगे बढ़ा। इसने बड़े विनम्र भाव से मुझसे क्षमा-याचना की। क्रोध बड़े वेग से मुझे वशीभूत किये था। वह कन्दुक की भाँति इधर-उधर वेग से, मुझे प्रिक्षेप करता था। मेरे नेत्र चञ्चल और रक्तवर्ण थे। मैंने उस भिखारी को सैकड़ों अपशब्द कहे। वह नत-मस्तक होकर सब सुनता रहा। मेरा क्रोध फिर भड़का। मैंने उससे पूछा; अरे मूढ़ तूने यह कैसा वेश बनाया है। घर छोड़ कर दूसरों के टुकड़ों का आश्रय क्यों लेता है? क्या घर बैठे भोजन, भजन नहीं

हो सकते ? उसने धीमे स्वर से उत्तर दिया, "मैं आप की बात समझता हूँ। उस समय मुझे यही सूझा कि मुक्ति के लिये मुझे गृहस्थी का त्याग ही उपयुक्त है। मैं मुमुक्षु हूँ। इसी लिये इधर-उधर भ्रमण करता हूँ।"

मुझे 'मुमुक्षु' शब्द सुनकर बड़ी हँसी आयी। मैं समझ गया कि यह कोई अत्यन्त मूर्ख जीव है। 'मुमुक्षु' किसे कहते हैं, यह समझता ही नहीं है। इतना सोचकर मैंने कुछ ऊँचे स्वर से उससे पूछा, "अरे धूर्त! तू यह भी समझता है कि 'मुमुक्षु' किसे कहते हैं ? इस 'मुमुक्षु' के अर्थ न समझने वाले व्यक्तियों ने ही देश के सहस्रों नवयुवकों का जीवन नष्ट कर दिया है। जिस समय उन्हें संसार में रहकर उसकी और अपनी उन्नति करनी चाहिये; उस समय वे इधर-उधर मारे-मारे घूम कर अपने आपको निस्साहसी, कायर, भिखमंगे, मग़रूर मिथ्याभिमानी और पतित बना लेते हैं। इस प्रकार का मनोभाव बहुत युगों से हम भारतवासियों में फैल गया है। इसी से ससार में हम किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते। अन्य देशवासी भौतिक उन्नति करके हमें दास बनाये हुये हैं। हमें तो आध्यात्मिक उन्नति की मृग-तृष्णा से ही छुट्टी नहीं है। हम लोगों के हृदयों में एक मिथ्या

आडम्बर अध्यात्मवाद का उत्पन्न हो गया है। हम समझते हैं कि केवल उसी रीति से हमारी उन्नति होगी। बार-बार विचार-पट पर आध्यात्मिक उन्नति का चित्र देखने का हम प्रयत्न करते हैं और मिसमेरिज्म के निराधार भ्रमात्मक आकारों की भाँति उसे देखते भी हैं। इसी प्रकार अपने को धोखे में डाले हैं और प्रतिदिन पतन की ओर अग्रसर हैं। भौतिकवाद के पण्डित और प्रत्यक्ष उन्नति के क़ायल राष्ट्र उन्नति करते जाते हैं और हम से बहुत आगे बढ़ गये हैं।

भिक्षुक मेरी बातों को बड़े ध्यान से सुनता रहा मेरे चुप होने के बाद उसने बड़े विनम्र भाव से जानना चाहा कि 'मुमुक्षु' कहते किसे हैं। 'मुमुक्षु' का क्या अर्थ है, विश्व में इसके अर्थ से भ्रम या अन्धकार कब से फैला है!

इसके इस अज्ञान का परिचय प्राप्त करके मुझे दया आयी। मैंने उससे 'मुमुक्षु' शब्द की व्याख्या आरम्भ की। मैंने उसे बतलाया कि मुमुक्षु के केवल अर्थ मरने की इच्छा रखने वाला से। हैडिकेल जुरिसप्रयुडेन्स (Medical Jurisprudence) सेनामक पुस्तक में एक ऐ व्यक्ति का उदाहरण दिया है जो केवल वैज्ञानिक प्रयोग के लिए कई बार मर जाया करता था और डाक्टरों

को बुला कर निकट बैठा लिया करता था। वे उसकी मृत्यु-प्रणाली का अनुशीलन करते थे। एक बार वह मृत होकर फिर न लौटा। इससे यह ज्ञात होता है कि यह एक ऐसा विधान था जो उस समय के लोगों को विदित था और उसे प्राचीन काल में लोग जानते थे। इस विधान से मरने की प्रणाली जो व्यक्ति जानते थे उन्हें मरने के समय की दुःसह पीड़ा नहीं होती थी। वे उस क्रिया द्वारा जब चाहें, शरीर छोड़ सकते थे। यह वैज्ञानिक क्रिया भारतीयों को सम्भवतः प्राचीन काल में ज्ञात थी। मनुस्मृति में एक स्थान पर लिखा है कि यदि एक वानप्रस्थ यह अनुभव करने लगे कि उसके शरीर की शक्ति क्षीण हो गयी है तो उसे अधिकार है कि वह भोजन परित्याग करके अपना शरीर त्याग दे। इससे यह सिद्ध है कि हमारे हिन्दू शास्त्रों में भी मरने के लिए एक प्रकार का विधान विहित है। प्राचीन जैन लोग इस प्रथा के अनुसार काम करते रहे, परन्तु बाद के जैन लोग मूल तत्व को भूलकर केवल भूख से देह परित्याग करने को ही मुख्य सिद्धान्त समझ बैठे और इससे बड़ा अनर्थ होने लगा। तात्पर्य यह है कि 'मुमुक्षु' उस वानप्रस्थ को कहते हैं जो शरीर की दुर्बलता और क्षीणता के कारण

उसे परित्याग करके मरना चाहता है। वर्तमान युग के वेदान्तियों ने भी इसके अर्थ समझाने में थोड़ा बहुत घपला किया है।"

'मुमुक्षु' की यह नयी परिभाषा सुनकर उस भिक्षुक को थोड़ी बेचैनी-सी हुई और वह मुझे छोड़कर आगे बढ़ा। मैं कुछ ध्यानावस्थित-सा था। मार्ग में एक दमसे ठोकर लगी। पत्थर से पैर फट गया। मुझे बहुत अधिक क्रोध आया। पैर की ओर तो मैंने बाद में ध्यान दिया, पहले मैंने बलपूर्वक पत्थर को पृथ्वी से उखाड़ लिया और इतने वेग से उसे पूर्व की ओर फेंका कि दूर से उसे एक वृक्ष से टकरा कर भूमि पर गिरते देखा। तत्पश्चात् पैर पकड़कर में बैठ गया। इतने में एक कपोत का महान कलरव सुनाई पड़ा। मैं उस शब्द की ओर बढ़ा और आगे चलकर मैंने देखा कि मेरे ही ढेले से आहत होकर वहकपोत शरीर त्याग रहा है। मुझे अपनी मूर्खता पर थोड़ा सा परिताप हुआ। परन्तु परिताप व्यर्थ था। मेरे पहुँचते-पहुँचते पक्षी निष्प्राण हो चुका था।

इस घटना के थोड़ी ही देर बाद सामने मार्ग से मुझे दो महिलाएं आती देख पड़ीं। मैंने उनके साथ दो अन्य पुरुषों को भी देखा। ये सब मेरे बहुत निकट

आ गये। पूछने से ज्ञात हुआ कि इन महिलाओं को ये लोग डाकुओं से छुड़ा लाये हैं। इन्होंने अपनी कथा इतनी वीरता के साथ वर्णन की कि मुझे ऐसा भास होने लगा कि यह अपने अतिरिक्त किसी को वीर ही नहीं समझते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि वीरता में ये अपने को विश्व-श्रेष्ठ समझते हैं और मुझे तिल-भर भी नहीं गिनते। थोड़ी देर तक तो मैं इनकी आत्म-विरुदावली सुनता रहा, परन्तु अन्त में न रहा गया। मैंने आगे बढ़कर एक का हाथ पकड़ लिया और कहा आत्माभिमानियों, मैं अकेले तुम दोनों को चूर कर सकता हूं। मेरी इस आकस्मिक वृत्ति पर वे थोड़े सहम से गये और बाहें चढ़ा कर मुझसे लिपट गये। वहुत झगड़ा हुआ। मैं भी आहत हुआ। इतने में उनमें से एक रणक्षेत्र छोड़ कर पलायमान हो गया। दूसरा मुझसे वहुत देर तक लड़ता रहा। हम दोनों अशक्त हो गये। अन्त में उसने आत्म-समर्पण कर दिया। मैं भी प्रसन्न हुआ। यह व्यक्ति भी उन महिलाओं को छोड़ कर न जाने कहाँ चला गया। ये महिलएँ मेरे सौन्दर्य और पराक्रम को देखकर मेरे चरणों पर आ गिरीं और उन्होंने अपने आपको समर्पण कर दिया। महिला-समाज के चाञ्चल्य और प्रणयस्थिरता

का उदाहरण मुझे पर्य्याप्त मिल चुके थे। इनके स्निग्ध और सुन्दर कटाक्षों के बीज मेरे हृदय की शुष्क मरुस्थली में अंकुरित तक न हो पाये। मैंने दो चार बातें इन्हें भी सुनायीं। यदि आत्म-समर्पण में ये महिलाएँ प्रतिरोध करतीं तो अवश्य मैं इन्हें अपने बल से आत्म सात् करने के लिये पराक्रम दिखाता। परन्तु इन्होंने तो स्वयं आकर आत्म-समर्पण किया था। यह मुझे रुचिकर न था। सिंह उसी पशु को खिला-खिला कर मारता है जो उसके व्यापार में प्रतिरोध करके अन्त तक अपने प्राण रक्त को लिये युद्ध करता है। मैंने उचित समझा कि इन महिलाओं को इसी कुत्सित अवस्था में छोड़ दिया जाय। परन्तु उन्होंने मेरे साथ रहने का आग्रह किया। उनके करुण-क्रन्दन से मेरा हृदय कुछ आर्द्र हुआ और मैंने उनको अपने साथ चलने में कोई रुकावट न डाली।

थोड़ी दूर चल कर मैंने देखा कि एक नाटक हो रहा है। सारा स्थान खचाखच भरा था। मैंने प्रवेश करना चाहा। द्वार पर ही थोड़ी धक्का-मुक्की हुई। मुझे प्रवेश करना दुर्लभ सा प्रतीत होने लगा। परन्तु मैं उन महिलाओं के साथ किसी न किसी प्रकार से भीतर प्रविष्ट हो गया। वहाँ मैंने देखा कि जो स्थान मेरे उपविष्ट होने

के लिए अर्पित किया गया था वह मेरे लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। मैंने देखा कि वे व्यक्ति जो मुझसे आगे बैठे हैं किसी भी दृष्टि में मुझसे अच्छे नहीं है। मैंने अनुभव किया कि मेरा अपमान किया गया है। क्रोध से मेरी आकृति रक्त वर्ण हो गयी। नेत्र लाल हो गये। शरीर तमतमा आया। नेत्रों के सामने अँधेरा छा गया। क्रोध मे मुझे तनिक भी ज्ञान न रहा। मैं मृग-शावक के उद्प्लवन से झट कूद कर आगे जा कर एक स्थान पर बैठ गया। इस स्थान पर बैठे हुए एक व्यक्ति को मैंने वेग के साथ स्थानच्युत कर दिया। यह बात सब को अशिष्ट प्रतीत हुई। कुछ व्यक्ति तो मुझसे युद्ध करने को तत्पर हो गये। कुछ लोगों ने यहाँ तक कह डाला कि मैं पागल हूँ। मेरे क्रोध ने तो नीतिमत्ता की सीमा पूर्व ही उल्लङ्घन कर दी थी, अब केवल उसे प्रदर्शन में विलम्ब था। झट युद्ध आरम्भ हो गया। प्रथम आक्रमण मैंने ही आरम्भ किया। घमासान मार-पीट होने लगी। चारों ओर से मैं आहत किया जाने लगा। मैंने भी आक्रमणकारियों को उनके अन्तर-सञ्चारी रक्त के दर्शन कराये। क्रोध से मुझमें चौगुना बल आ गया था। खूब कुरसी स्टूल चले। नाटक स्थगित हो गया। कई स्थान पर मैं आहत हो चुका था।

मैंने सोचा कि इस समय साहस का सर्वोत्कृष्ट प्रदर्शन यह है कि मैं इस स्थान से भाग जाऊँ। इसी विचार के साथ मैं मृगराज के वेग से झपट कर नाटक-शाला के द्वार पर आया। वहाँ भी दो तीन व्यक्तियों को आहत करता हुआ उस स्थान से चला गया। बहुत से व्यक्ति मेरे पीछे दौड़े; परन्तु मुझे न पा सके।

विशाल मार्ग पर पहुँच कर मुझे स्मरण आया कि मैंने उन दो आश्रित रमणियों को असहाय छोड़ दिया है। अतएव मैं फिर लौटा। इतने में वे दोनों मुझे एक व्यक्ति के साथ आती दिखायी दीं। मेरे निकट पहुँच आने पर भी उन्होंने मेरी ओर कुछ ध्यान न दिया और उसी व्यक्ति के साथ आगे बढ़ती गयीं। मुझे इस व्यवहार से क्रोध आ गया। मैंने पूछा, आप लोग इस व्यक्ति के साथ कहाँ जा रही हैं? उन्होंने हँसकर कहा, आपको क्या करना है? आप तो हम लोगों को छोड़कर चले आये थे। मैं कुछ न बोला। वे आगे बढ़ गयीं। क्रोधाग्नि और प्रज्वलित हुई। मैं अपने आप को सँभाल न सका। जिस प्रकार पक्षिराज एक छोटे से पक्षी को आत्मसात करने के लिए टूट पड़ता है उसी प्रकार मैं मन के वेग से भी अधिक वेग से उस व्यक्ति पर टूट पड़ा, जो इन

महिलाओं को अपहरण कर, लिये जा रहा था। वह बिलकुल असावधान था। शरीर का दुर्बल भी था। मेरे प्रहार की असह्य वेदना से वह धराशायी हो गया। मैंने उन रमणियों को भी बड़े कटु शब्द सुनाये। वे तुरन्त मेरे साथ चलने को प्रस्तुत हो गयीं। परन्तु मैंने उन्हें साथ ले जाना अस्वीकार कर दिया।

अभी क्रोध कम न हुआ था। मैं मस्ती के साथ आगे बढ़ रहा था। प्रकृति का सुन्दर और शान्त दृश्य मेरे हृदय को शान्त रखने की क्षमता न रखता था। मैंने उसकी ओर ध्यान भी न दिया। परन्तु धीरे-धीरे हृदय स्वयं शान्त हो गया। शीघ्र ही सामने के मार्ग से मेरा बिछुड़ा हुआ अवधूत शिष्य आते दिखायी दिया। इसको देखकर अनायास मेरे हाथ उसे प्रणाम करने के लिए उठ गये। उसने मुझे बड़ी तत्परता से प्रणाम किया। हम दोनों एक स्थान पर बैठ गये। कुशल-वार्तालाप के पश्चात् उसने मुझसे मेरी कथा सुनी। मैंने अपनी सारी गाथा कह सुनायी। उसने ठंडी साँस लेकर कहा 'गुरू जी आप अपने मार्ग से फिर बहुत दूर आ गये हैं।' मुझे यह सुनकर बड़ा खेद हुआ। मैंने करबद्ध होकर उससे पूछा कि भगवन् मेरा उपकार कैसे होगा। अभी उस बार महिला-समाज

के संसर्ग से मुझे कितना कष्ट उठाना पड़ा है परन्तु इस बार फिर असहाय रमणियों की धूर्तता समझता हुआ भी मेरा मन उनकी ओर स्निग्ध था और उनको साथ ले चलने के लिये प्रस्तुत सा हो गया था। इस स्निग्ध भाव के परित्याग करने में मुझे महान कष्ट हुआ। इसका क्या कारण है ? महिलाओं में क्या कोई ऐहिक स्निग्धता रहती है ? उनके हृदय में स्निग्धता, उनके वचनों में स्निग्धता, इसका क्या कारण है ?

इस पर अवधूत ने मुस्करा कर मुझसे कहा, 'वास्तव में परम्परा से हम महिलाओं में सुकुमारता और आर्द्रता आरोप करने के अभ्यस्त हैं। हम उनमें कठोरता की व्याख्या ही नहीं करते हैं। उनके भाव-व्यञ्जन में सुकुमारता का प्रस्रोत प्रवाहित हो जाता है । यही कारण है कि उनके स्निग्ध भाव प्रदर्शित करने पर हमारा क्रोध शीतल हो जाता है और हम उनका सामीप्य रुचिकर समझने लगते हैं। इस पर मैंने पूछा, कि यह स्त्री पुरुष का भेद भाव कैसे प्रतीत हो सकता है।

इस प्रश्न का उत्तर अवधूत ने यह कहकर दिया कि आप को इस भेद भाव के स्पष्ट करने के लिये ज्ञानी होने की आवश्यकता है। ज्ञानी से मेरा अभिप्राय उस पाण्डित्य से है

जिसकी विवेचना नीचे दी है—

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

इस पर मैंने पूछा कि क्या प्रत्येक व्यक्ति में तिरोहित रूप से 'पण्डित' बनने का सामर्थ्य रहता है?

उसने तुरन्त उत्तर दिया—"अवश्य। मनुष्य में सार युक्त उन्नति के परिमाणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अप्रस्फुटित रूप से विकासशील स्थिति में उपस्थित रहते हैं। जिसी ओर जिस उन्नतिशील अवस्था का मनुष्य अपने में विकास करना चाहता है उसी ओर वह विकसित हो सकती है।"

मैंने फिर प्रश्न किया "उन्नत अवस्था के परिमाणुओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप उपस्थित रहने का आपके पास क्या प्रमाण है?"

अवधूत ने उत्तर दिया, "इसका समझना, गुरु जी मेरी धारणा में उतना कठिन नहीं है जितना कि प्रथम प्रतीत होता है। हमारी सारी शक्ति एक प्रकाशमान दीपक की भाँति है। हमारा अज्ञान इसे एक अत्यन्त स्थूल वस्त्र के अञ्चल की भाँति प्रतिच्छन्न किये है। जिस दिशा का अज्ञान दूर हो जाता है, उसी दिशा में

वस्त्रमें छिद्र हो जाता है और हमारे ज्ञान की लौ उस ओर दिखने लगती है। हमारे साथी कहने लगते हैं कि अमुक व्यक्ति ने अमुक दिशा की ओर खूब उन्नति की है। जितनी दिशाओं की ओर हमारा अज्ञान नष्ट हो चुका है उतनी दिशाओं की ओर अञ्चल में छिद्र हो जायंगे और हमारे ज्ञान का स्वरूप दीखने लगता है।

एक और बड़ा प्रमाण हममें ज्ञान शक्ति के विराजमान होने का यह है कि अधिक बार हम जब किसी सुन्दर कविता को सुनते हैं अथवा सुन्दर भाव अक्षरों में व्यञ्जित पाते हैं तो एकाएक यह विचार आ जाता है कि यह तो बिलकुल मेरी ही कविता है, अथवा ये तो मेरे ही भाव लेख में व्यक्त किये गये हैं। हमारी हृदयतन्त्री उन भावों से झङ्कृरित होती है। हमारे आन्तरिक ज्ञान-प्रकाश की एक लपट निकल कर मानों बाहर के व्यक्त-भाव-प्रकाश से एकीकरण करने लगती है। परन्तु अज्ञान का परदा जब तक सुदृढ़ रहता है, वह आन्तरिक प्रकाश पुनः बल से छिपा दिया जाता है।

परन्तु पुनः-पुनः इसी दिशा की ओर ज्ञान-प्रकाश की रश्मियां निकलने लगें तो वे अभ्यस्त हो जाती हैं। अज्ञान पट उस दिशा की ओर जीर्ण हो जाता

है; यहां तक कि एक दिन उसमें छिद्र हो जाता है और फिर ज्ञान-दीपक का वह भाग प्रत्यक्ष हो जाता है। इससे अधिक स्पष्ट रूप में ज्ञान की अस्फुट उपस्थिति का प्रमाण व्यक्ति में अन्य उदाहरणों में न होगा। इसी ज्ञानार्जन में 'पण्डित' बनाने की क्षमता है।"

यह उदाहरण हृदय में बहुत बैठ गया। 'पण्डित' बनने के सम्बन्ध में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होने लगे। एक विचार यह भी आया कि ज्ञानार्जन करने के लिए योग कहां तक सहायता देता है। ईश्वर कहां तक मदद करता है। नास्तिक होने से क्या ज्ञानोपार्जन हो सकता है। इसी विचार धारा में मैं निमग्न था कि मेरे शिष्य ने मेरे चरण पकड़ कर पूछा कि आप क्या विचार कर रहे हैं? मैंने अपने भाव स्पष्ट कह दिये। इस पर वह तुरन्त बोल उठा, "गुरुवर, नास्तिक के सम्बन्ध में तो इधर कुछ काल से साधारण बोल-चाल में एक और ही अर्थ लगाया जाता है। वास्तव में नास्तिक शब्द का यह अर्थ शास्त्र-विहित नहीं है। यदि हम नास्तिक का प्रचलित अर्थ लें तो कुमारिल भट्ट, प्रभाकर इत्यादि सभी मीमांसाकार नास्तिकों की श्रेणी में आजायेंगे। प्राचीन काल में नास्तिक उसे कहते थे जो " नास्त्यात्मा, नास्ति पर-

लोक," इस मत का प्रतिपादक हो । अर्थात् जो पूर्ण रूपेण जड़वाद का ही पोषक हो । "नास्तिको वेद निन्दकः" का भी यही अभिप्राय है। यदि जगद्-सृष्टा के न मानने वाले को नास्तिक कहते हैं—इस अर्थ का ही प्रतिपादक नास्तिक शब्द हो तो हमारे सारे दर्शन आस्तिक न रह जायँगे ।

"अब रहा योग के सम्बन्ध में। मेरा विश्वास है कि योग से ज्ञानोपार्जन हो सकता है। बिना चित्त-वृत्ति के विरोध के आत्मबल (Will power) शक्तिमान नहीं हो सकता। 'योगः क्रियासु कौशलं', अर्थात् क्रिया-कुशलता को ही योग कहते हैं । चित्त-वृत्ति का निरोध करते हुये क्रिया कुशलता के साथ कार्य करना ही ज्ञानार्जन का सत्य मार्ग है। इसी से आत्मबल बढ़ सकता है। मन के वेग को कुमार्ग से रोकने का अभ्यास डालना और सन्मार्ग की ओर अधिकाधिक दत्तचित्त होना और लगन से स्थिर रहना ही योग है। मन पर इस संयमन और मानसिक व्यायाम से अधिकार प्राप्त होता है। और कुमार्गों की ओर से बचायी हुई मन की शमन शक्ति का सञ्चय सन्मार्ग की ओर अत्यधिक वेग से अग्रसर हो सकता है। सांञ्चित शक्ति और सञ्चित

आत्मबल वाले व्यक्ति के आत्मबल में विश्व को आकृष्ट करने का महान बल होता है।..........इस बल को वह जिस ओर प्रक्षिप्त कर देता है उसी को वह आत्म-सात कर लेता है। जितना ही यह बल जिस में अधिक होता है उसकी आत्मा उतनी ही बड़ी होती है। महान् आत्मा में विश्व को अपना मार्ग दिखाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार संसार में एक मिसमेरिज्म करने वाला अपनी नेत्र-शक्ति की प्रबलता अथवा अपने मनोयोग के बल से किसी भी अविकसित बालक की आत्मा को केवल देखकर ही आत्मसात कर लेता है उसी प्रकार एक योगी जड़ और चेतन सभी को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। यही कारण है कि महात्मा गांधी, महात्मा बुद्ध सरीखे व्यक्तियों को अपने सिद्धान्तों के प्रचार करने में शक्ति मिली। इन योगियों की इच्छा में बल होता है और केन्द्रीभूत आत्मबल को ये किसी दिशा में किसी कार्य में लगा कर सफलता प्राप्त कर सकते हैं। वह दूसरे की आत्मा को उतनी ही वेग के साथ अधिकृत कर सकता है जितने वेग से एक मिसमेरेजर एक बालक की आत्मा को तल्लीन कर लेता है। जिस वस्तु को वह स्वयं देख लेता है उसे निसंज्ञ किया

हुआ बालक आत्म तल्लीनता के कारण बतला देता है। कारण यह है कि आकर्षण से आत्मा का क्षणिक एकीकरण हो जाता है और स्थिति में अधिक विकसित आत्मा का आधिपत्य निर्बल आत्मा को स्वीकार करना पड़ता है और विजयी आत्मा की आज्ञा के अनुसार काम करना पडता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मबल आत्मा के विकास का लक्षण और साधन है और ज्ञानोपार्जन का मुख्य विधान है। 'पण्डित' इसी योग ही से मनुष्य बन सकता है और तभी स्त्री और पुरुष के भेद-भाव का विस्मरण हो सकता है। यही नहीं, मानव सृष्टि और पशु-सृष्टि में वह कोई भेद-भाव नहीं देखता है। आगे बढ़कर जड-चेतन का भी भेद-भाव मिट जाता है और केवल एक ब्रह्म ही ब्रह्म देखने लगता है।" अवधूत की योग के सम्बन्ध की इन बातों को सुनकर चित्त में कुछ विचार नवीनता का सञ्चार हुआ। फिर एक बार मैं सोचने लगा कि मैं बड़े भ्रम में पड़ गया था। हृदय उमड़ आया। मैं अश्रु-अवरुद्ध कण्ठ से अपने शिष्य से कहने लगा, "मैं बड़े भ्रम में पड़ गया था! आज जो बातें तुमने बतलायीं, ये सब मेरी अध्ययन की हुई हैं। परन्तु

जितना मैंने आज उन्हें समझा है उतना कभी नहीं समझा था। उन्हीं पुराने सिद्धान्तों में तुमने बिलकुल नये विचारों का दिग्दर्शन कराया। हम तुम्हारे बड़े कृतज्ञ हैं। अब हमें यह आदेश करो कि भविष्य में हम अपना जीवन निर्वाह कैसे करें। किस प्रकार हम इस नयी व्याधि से मुक्त हों। मानव-समाज के प्रति मुझे घृणा हो गयी थी। उसके प्रति मुझे अकारण ही क्रोध उबला करता था। इससे मैंने अपनी बहुत ही हानि की है। इस का प्रायश्चित मुझे कैसे करना चाहिए।

इस पर उस अवधूत ने कुछ मुसकुरा कर कहा कि क्रोध से बचने का सबसे सरल विधान यह है कि जिस समय आपका मन इसके वशीभूत हो उसे तुरन्त उधर से खींचिए। यह कार्य कठिन है, परन्तु अभ्यास से सरल हो जायगा।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येववशं नयेत्।

थोड़ा सा सोचकर मैंने फिर कहा, "परन्तु इस बात में कहाँ तक सत्यता है कि क्रोध के बिना मनुष्य में तेज नहीं रहता और न क्षात्र-धर्म ही का वह पालन कर सकता है। यह भी बतलाइए कि यदि अर्जुन में कौरवों

के दुराचरण के कारण क्रोध न उत्पन्न होता तो दुष्टों का संहार किस प्रकार होता ?"

अवधूत ने उत्तर दिया, "आप भ्रम में हैं, तेज क्रोध से नहीं आता ; प्रत्युत तेज क्रोध से हत हो जाता है। क्रोध की ज्वाला शक्ति का विनाश कर देती है। निशक्त व्यक्ति का तेज कैसे रह सकता है। क्रोध से प्रेरित होकर अर्जुन ने कौरवों से युद्ध नहीं किया प्रत्युत उनके अत्याचारों से रक्षा करने के लिए विरोध भाव से उन्होंने कौरवों से युद्ध किया था। क्रोध क्षात्र-धर्म का लक्षण नहीं है। युद्ध करने में भी क्रोध की आवश्यकता नहीं जिस प्रकार काम-वासना से रहित होकर भी एक व्यक्ति पुत्रोत्पादन कर सकता है उसी प्रकार क्रोध-भावना से रहित होकर भी व्यक्ति बड़ी शूरता से युद्ध कर सकता है। बल होते हुए भी जो व्यक्ति क्रोध नहीं करता वही वास्तव में शान्त है। कायर में क्रोध का अभाव होना गुण नहीं समझा जा सकता।

नवे वयसि यः शान्तः सः शान्त इति कथ्यते,
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते।

इस स्थान पर एक राजपूत बाला का अधोलिखित पद पठनीय है—

नाइन आज न मांड पग, काल सुणाजे जंग,
धारा लागे सोधणी, तब दीजै घण रंग।

कितने शान्त भाव से यह बाला कितने शूरता और तेज युक्त वचन कह रही है। क्या इन वाक्यों में क्रोध का तनिक भी पुट है ? कदापि नहीं, इस स्थान पर इसी भावना की पुष्टि करने के लिए मैं दक्षिण के तामिलवेद के रचयिता महात्मा तिरुवल्लुवर के कुछ शब्दों का उल्लेख करता हूँ।

(१) "जिसमें शान्ति पहुँचाने की शक्ति है उसी में सहन शीलता का होना समझा जाता है। जिसमें शक्ति ही नहीं है वह क्षमा करे या न करे उससे किसी का क्या बनता बिगड़ता है।

(२) "अगर तुममें हानि पहुँचाने की शक्ति न भी हो तब भी क्रोध करना बुरा है। मगर जब तुममें शक्ति हो तब तो क्रोध से बढ़कर ख़राब बात और कोई नहीं है।

(३) "तुम्हें नुकसान पहुँचाने वाला कोई भी हो ग़ुस्से को दूर कर दो। क्योंकि गुस्से से सैकड़ों बुराइयाँ पैदा होती है।

(४) "क्रोध हँसी की हत्या करता है और ख़ुशी को

रुष्ट करता है। क्या क्रोध से बढ़कर मनुष्य का और कोई भयानक शत्रु है ?

(५) "अग्नि उसी को जलाती है जो उसके पास आता है मगर क्रोधाग्नि सारे कुटुम्ब को जला डालती है।

(६) "मनुष्य की समस्त कामनाएँ तुरन्त ही पूर्ण हो जाया करें, यदि वह अपने मन से क्रोध को दूर कर दे।

(७) "जो क्रोध के मारे आपे से बाहर है, वह मुर्दे के समान है, मगर जिसने क्रोध को त्याग दिया है वह सन्तों के समान है।"

यही नहीं क्रोध के और भी अनेक दुर्गुण हैं। गीता में कहा है—

क्रोधात्भवति संमोह संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

क्रोध मनुष्य से कन्दुक की भाँति क्रीड़ा करता है। प्रत्येक संयमी व्यक्ति का कर्तव्य है कि इससे बचा रहे।

अवधूत की इन अन्तिम बातों का बड़ा प्रभाव पड़ा। सारा प्राचीन इतिहास स्वप्न-जाल की तरह मस्तिष्क पर अङ्कित हो गया। मैं अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगा। उसने मुझे सान्त्वना दी।

मध्यान्ह हो चुका था। ग्रीष्म काल की प्रचण्ड सूर्य रश्मियाँ पृथ्वी स्थित जलाशयों में अपनी पिपासा तृप्त कर रही थीं। अत्यधिक उष्ण वायु के झोकें वृक्षों को कम्पायन और पादपों को धराशायी करते हुए हम लोगों के कृश शरीर से वेग से टकराते थे। पार्श्वस्थित पलाश वन पुञ्जीभूत अग्निराशि की तरह दीखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रीष्म काल के अत्यन्त उष्ण दिवस में सूर्य से प्राप्त-सन्तति वसुन्धरा ने महान् अग्नि-तेज को सहन न करने के कारण अकाल ही में प्रसव कर दिया है। वन की भयावह दशा देखकर यह भी कल्पना आ जाती थी कि सम्भवतः इसी स्थान पर शिव जी ने तृतीय नेत्र का उद्घाटन किया होगा और यह पलाशवन दग्ध कामदेव के अवशेष अस्थिपञ्जर हैं। तथा सूर्य से पृथ्वी सूर्यकान्त मणि की भांति प्रति-घात होकर प्रलयकालीन दृष्टि की तीक्ष्णता से प्रविष्ट प्रलयाग्नि को वमन कर रही है। मनुष्यों में केवल किसान घर के बाहर हैं। पक्षियों में केवल चील्हें मण्डलाकार उड़ रही हैं। चतुष्पदों में यत्र-तत्र रजक-रक्षक हरी-हरी घास चरते दृष्टि-गोचर होते हैं। पालतू महिषियाँ जलाशयों में पड़ी हैं। एक ओर बतखें तैर रही हैं। बरें

और भौंरे अपने कार्य में रत हैं, मानो इन्हें धूप ही नहीं सताती। भ्रमर का काला शरीर मानो दग्ध पदार्थों द्वारा निर्मित किया गया है। इन्हें मालूम हो गया है कि जली हुई वस्तु अधिक नहीं जलाई जा सकती। इसी से वे निदाघ को चुनौती देकर कड़ी धूप में घूम रहे हैं। पुष्प से इनका इतना अनुराग है कि उष्णता के कारण कुम्हलाई हुई आकृतिवाली पँखुड़ियों के ऊपर छाया करने के लिये ये पङ्ख फैलाकर उड़ रहे हैं। इनकी मस्तानी भन-भनाहट में अतीत के गान का स्वर है। पुष्पों से पुष्पों पर निरन्तर स्थित होकर भ्रमर ने सब के भक्तिरस की परीक्षा ले ली। अब वह प्रार्थना करता है कि भगवान या तो मुझे उस कली के दर्शन करादे, जिसमें रस कभी क्षीण नहीं होता और एक रस बना रहता है, अथवा इस दग्ध शरीर से उसका छुटकारा कर दे।

मध्याह्न समय का यह भयावह दृश्य हृदय को निस्तब्ध करने वाला था। अवधूत ने मुझको एक निकटवर्ती देव-मन्दिर में मध्याह्न का समय व्यतीत करने का परामर्श दिया। हम दोनों उस देव-मन्दिर में जाने को प्रस्तुत हुए। मार्ग में अवधूत यह कहता जाता था कि मानव समाज को उन्नत करना हमारा कर्तव्य है। अतएव, उसके

प्रति स्निग्ध भाव रखना आवश्यक है । क्रोध करने से विद्वेष होता है। विद्वेष से चरित्र हीनता आती है । इतना कहते हुए हम दोनों देव-मन्दिर में प्रविष्ट हुये । शिव की प्रतिमा बड़ी भव्य और सुन्दर थी । मैं निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा । शीघ्र ही हम दोनों पत्थर की चट्टान पर लेट गये । मुझे निन्द्रा सताने लगी । सामने से आता हुआ प्रकाश हम दोनों के मुँह पर पड़ रहा था । मैं हृदय में विचार करता था कि ऐसे पवित्र स्थान पर मुझ जैसे पापी ने कैसे प्रवेश किया । मैं इस स्थान में प्रविष्ट होने के योग्य नहीं हूँ । सामने का प्रकाश और भी दुःख दे रहा था । मैं झट उठा और मैंने द्वारा-वृत किये । असावधानी और त्वरा के कारण मेरी एक उँगली किवाड़े से दब गई । मैंने शीघ्रता से उसे निकाला । पर वह आधी दब चुकी थी । रक्तपात आरम्भ हो गया । मुझे पीड़ा होने लगी । मेरा शिष्य सो गया था । मेरी आहट पाकर वह झट उठा और उसने मेरा अँगौछा फाड़ कर उँगली में बाँधा । उसके स्पर्श मात्र से मेरी पीड़ा कम हो गयी । उसने मुझसे कहा, 'भगवन् यह भी अच्छा ही हुआ । पापों का प्रायश्चित हो जाना ही अच्छा है ।,

"मैंने सोचा कि तीन बार भटक कर मैंने तीन उंगलियाँ

खो दी हैं। भगवान् अब इस विपदा से बचावें, यही सोच विचार के साथ मैं सो गया। अवधूत मेरे चरणों के पास बैठकर पैर दबाने लगा। मैंने झट उसे हटाकर अपने पास बैठा लिया और उसकी जङ्घा पर अपना मत्था रखकर निद्रित हो गया। अर्द्ध-निद्रित अवस्था में मैंने यह स्वप्न देखा कि शिवालय की सुन्दर मूर्ति मुझसे कहती है, 'हे प्राणी! मानव समाज के प्रति प्रेम और स्नेह करना सीखो। क्रोध पाप का मूल है।' मेरी आँख झट खुल गयी। मैंने देखा कि मेरा अवधूत मित्र नहीं है। मैंने तुरन्त उठ-कर देखा कि वह कहाँ है। उसे बहुत कुछ खोजा परन्तु वह कहीं दृष्टि गोचर न हुआ। मैंने बुलाया भी परन्तु किसी ने उत्तर न दिया। मैंने सोचा कि इसने फिर मुझे धोखा दिया। अकस्मात् अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। नेत्रों के समक्ष अन्धकार छा गया। मैं सोचने-लगा कि जिस प्रकार बाण को दूर फेंकने के लिये कार्मुक उसे अपने हृदय के निकट पहले आकृष्ट करता है और फिर इतने वेग से छोड़ देता है कि बाण का पता तक नहीं लेता। उसी प्रकार यह अवधूत मुझे आकृष्ट करके दूर से दूर फेक दिया करता है। धनुष की भाँति यह भी उतनी ही तत्परता के साथ

मुझे अपनी ओर आकृष्ट करता जितनी अधिक दूर इसे मुझे फेंकना होता है ।

थोड़ी देर में मैं फिर उसके चले जाने की बात सोचने लगा। यह भी तर्क हुआ कि सम्भवतः वह उदर स्वच्छ करने के लिये गया हो। परन्तु अधिक देर हो जाने के कारण मुझे पूरा विश्वास हो गया कि वह कहीं चला गया है। धीरे-धीरे सन्ध्या हो गयी। मैं मन्दिर के बाहर आया। पत्थर का चबूतरा अभी अवशेष उष्णता से दग्ध था। कुछ काल तक मैं टहलता रहा। फिर धीरे से एक के पर बैठ गया। अभी मेरे विचार-पट पर अवधूत की प्रतिमा चक्कर लगा रही थी।

सन्ध्या समय का अवसान हो रहा था। रजनीपति अपनी सम्पूर्ण कला से क्षितिज पार आकाश मार्ग की ओर अग्रसर थे। पश्चिम दिशा में दिवसनाथ लम्बायमान दिखायी पड़ते थे। दोनों में बड़ा सादृश्य था। परन्तु पूर्व में नक्षत्रावलियाँ थीं और पश्चिम में प्रकाश था। शीघ्र ही रजनी के साथ क्षपानाथ की भी विजय हुई। सागर-विलीन उष्ण-किरण की केवल रक्त रश्मियाँ ही अवशेष रह गयीं। शनैः शनैः आकाश मण्डल में रक्तिमा के स्थान में नीलिमा का साम्राज्य हो गया। इस पर

चन्द्रज्योत्स्ना की धवलता का मनोहर आवरण था।

मुझे मन्दिर के बाहर बैठे अतिकाल हो गया था कि इतने में एक अत्यन्त वृद्ध महिला धीरे-धीरे देव मन्दिर के द्वार पर पधारी। उसके हाथ में एक पत्र था। बड़ी सावधानी के साथ वह उसे अपने हृदय से लगाये हुए थी। बड़ी भक्ति से उसने देव प्रतिमा को प्रणाम किया। और फिर फूट-फूट कर रोने लगी। उसने सम्भवतः इस बात की ओर ध्यान भी न दिया था कि मैं उस स्थान पर उपस्थित हूँ। उसके करुण-क्रन्दन से मेरा हृदय भर आया। नेत्र ढब-ढबा आये। मैं यह न समझ सका कि उस वृद्ध महिला को कौन-सा कष्ट है। वस्त्र-परिधान से वह एक उच्च घर की महिला प्रतीत होती थी। उसका सेवक भी उससे बहुत दूर खड़ा था। जब उसने ईश्वराराधना समाप्त की तो मैं उसके निकट गया। उसके सुन्दर भावों ने मेरे हृदय में आदर का भाव उत्पन्न कर दिया था। वह करुण-भाव में इतनी निमग्न थी कि उसने पहले तो मेरी ओर ध्यान भी न दिया परन्तु थोड़े काल के पश्चात् मेरी ओर देख कर बोली "कौन रमेश ?" मैं लज्जित हो गया। उसके नेत्रों से वात्सल्य भाव का प्रस्रोत निरन्तर प्रवाहित था। धीमे स्वर से

मैंने उससे कहा कि माता मैं रमेश नहीं हूँ। इतना सुनते ही उसने नेत्र बन्द कर लिये और उसी स्थान पर बैठ गयी और कुछ समय के लिये संज्ञाहीन सी हो गयी। उसके हाथ से पत्र गिर गया। मैंने उसे उठा लिया और पूर्णेन्दु ज्योत्स्ना के प्रकाश में उसे पढ़ने लगा। पत्र में लिखा था:—

साबरमती,

२७—४—१९२७

पूजनीया माता जी,

वात्सल्य भाव से परिस्रावित आपका पत्र प्राप्त हुआ। और भी आपके कई पत्र प्राप्त हुए। उनके उत्तर लिखने का समय न मिला। एक बात यह भी है कि आपके प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द-भण्डार का अभाव है। हृदय में भाव हैं, अनुराग है उद्गार हैं, परन्तु उनके प्रकाशित करने को शक्ति नहीं है। एक बात और है कि जितनी सरलता से आप अपने भाव प्रकट कर देती हैं उतनी सरलता से मैं नहीं कर सकता। मैंने कभी आपके सम्मुख बात भी नहीं की है। हाँ, मेरे प्रति अनुरागातिरेक के कारण जब आप कभी रोपड़ी हैं तब मुझे भी रोना आ गया है। परन्तु मैं इस

रोने को स्त्री-गुण ही समझता हूँ। आपके प्रति अपने प्रेम-भाव प्रकट करते मुझे लज्जा आती है आप मेरी माता हैं। आप इस पत्र को अवश्य पढ़ेंगी, ये स्मरण करके ही मुझे लज्जा और सङ्कोच आ जाती है ऐसा प्रतीत होता है कि अपने भाव लिखना आपके प्रति अपने आदर-भावों को सीमित करना है।

लज्जा की मात्रा प्रत्येक स्त्री पुरुष में वर्तमान रहती है और उसकी उपस्थिति आवश्यक भी है। इस भाव का न्यूनाधिक्य ही हानिकारक है। मुझमें यह प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। कई अवसरों पर मुझे इस मनोभाव से युद्ध करना पड़ता है और बहुधा मुझे क्षति पहुँचती है। पत्र का लिखना भी एक महान् युद्ध है। हृदय में अनुराग और श्रद्धा की लहरें उठती हैं परन्तु लज्जा की चट्टानों पर ठोकर खाकर लौट जाती हैं। वे अत्यन्त शक्ति-शालिनी हैं। सम्भवतः उन्होंने चट्टानों को विदीर्ण भी कर दिया है। इसी विजय के उपलक्ष में यह पत्र लिखा जा रहा है। अब मैं आपका स्नेह-पत्र सम्मुख रखकर एक-एक बात का उत्तर लिखूँगा। यदि कहीं कुछ अनुचित लिख जाऊँ जिससे आप के हृदय में ठेस पहुँचे तो अपने स्नेह भाव के अतिरेक से क्षमा कीजिएगा। मुझे आपने कालेज

में भरती करा दिया है। मैं तर्क-शास्त्र पढ़ता हूँ अतएव मेरी इच्छा होती है कि हर बात को तार्किक दृष्टि से परीक्षा करूँ और तार्किक उत्तर लिखूँ। मैं यह समझता हूँ कि आपके प्रेम के प्रति यह अन्याय है परन्तु कभी-कभी मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध उत्तर लिखने में अवश्य वह भूल कर जाऊँगा।

आपने मेरा लालन-पालन किया है। माता की मृत्यु के पश्चात् से आप ही मेरी दूसरी जननी हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि संसार में आपसे अधिक मुझे कोई प्रेम भी नहीं करता। मेरे भाई बहन स्त्री सम्भवत: आपके प्रेम से अधिक किसी का प्रेम नहीं है। मेरा भविष्य क्या होगा, यह मैं नहीं समझता। हाँ, आपका कहना है कि वह बहुत उज्ज्वल है। इसी से कुछ सन्तोष है। आप जितना प्रेम करती हैं उसका उपयुक्त प्रत्युत्तर न पाकर आपको दुःख होता है। जिस बालक को आपने खिलाया और पढ़ाया है उसको सर्वदा अपने नेत्रों के निकट रखने की भावना आप में उत्कट है। मेरी उपेक्षा के कारण आपको इस वृद्धावस्था में जो कष्ट होता है उससे आपका शरीर क्षीण हो जायगा। आपने यह भी लिखा कि कभी-कभी मेरी उपेक्षा से आप इतनी कातर हो जाती हैं

कि आपके जीवन पर आ जाती है। मेरी यह उपेक्षा आपके इस प्रेम की घातक है। परन्तु आप तो अपने जीवन-विनाश के लिए भी प्रस्तुत हो जाती हैं। आपने यह भी लिखा कि जिस माता के प्रेम में अपनी सन्तति को आकृष्ट करने का बल नहीं वह प्रेम मातृ प्रेम नहीं है अतएव आप अपने को दोषी ठहराकर दशरथ जी का प्रमाण देती हैं कि उन्होंने अपने प्राण प्रेम परिपक्वता के लिये परित्याग कर दिए और दूसरे जन्म में फिर अपने प्रिय पुत्र रामचन्द्र का सान्निध्य प्राप्त किया। परन्तु आप यह भूल जाती हैं कि आत्महत्या करने वाले को नरक मिलता है।

परन्तु यहाँ यह भी बात नहीं है। यह बात नितान्त भ्रममूलक है कि मैं आपके मातृ-स्नेह का आदर करना नहीं जानता। अथवा स्नेह का प्रत्युत्तर नहीं देता। यह बात दूसरी है कि मेरे ऐसे दुनियाँ के झंझटों में फँसा व्यक्ति अपने प्रेम को उपयुक्त मात्रा में प्रदर्शन न कर सके और हास्यरस की प्रधानता होने के कारण उसका रूप विकृत करदे। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि मैं हृदयशून्य हूँ अथवा अपनी पूजनीया

माता से प्रेम करना नहीं जानता। कुछ पटु मनुष्य हृदय तंत्री को बजाकर सुनने वालों को मुग्धकर लेते हैं। परन्तु कुछ आत्म-निग्रही प्रेमी जनों की प्रेम-तंत्री का तार शिथिल होने के कारण लोगों को स्वर का आरोह-अवरोह कर्ण गोचर नहीं होता। इसी से विह्वल होकर श्रोता चिल्ला उठते हैं, 'कुछ नहीं समय नष्ट हुआ' और उठकर चल देते हैं। यह मनोविज्ञान साधारण लोगों के लिए क्षम्य है, परन्तु माता जी, आप तो विदुषी हैं।

मैं यह कभी अस्वीकार नहीं करता हूँ कि मैं आप का पुत्र नहीं हूँ।

मुझमें त्रुटियाँ देखकर भी आप मुझे आशीर्वाद देती हैं। मेरी उपेक्षा की वेदना की आहों में भी आप आशीर्वाद की लड़ी बाँध देती हैं। मुझसे अत्यन्त दुखी होकर भी मुझे दीर्घायु होने की शुभकामना प्रकट करती हैं।

मैं आपसे झुँझला भी जाता हूँ परन्तु आप क्रोध नहीं करती। हाँ, दुःख चाहे अवश्य होता हो। मैं आप के इन सब गुणों का भक्त हूँ। आपने जो उपकार मुझ पर किये हैं, उनको मैं आमरण स्मरण रखूँगा परन्तु कभी कभी आपके स्नेह के कुछ निषेध खटक जाते हैं। मैं

एक महीने में कलकत्ते सेकानपुर अवश्य आ जाऊँगा। परन्तु आप वहाँ मेरी स्वतंत्रता में बाधा डालेंगी। आप रात्रि तक मित्रों में मेरा घूमना पसन्द नहीं करतीं। आप चाहती हैं कि मैं अधिक समय घर पर ही बिताऊँ। आप चाहती हैं, कि घर की चहारदीवारी में ही मैं बन्द रहूँ। आप उन मित्रों से क्रुद्ध हो जाती हैं जिनके साथ मैं अधिक समय व्यतीत करता हूँ। मैं यह नहीं चाहता। इसी लिए मुझे आपके यहाँ आना अखर जाता है। आपके यहाँ मैं जितना समय व्यतीत करूँ, उसी से आपको सन्तोष करना चाहिए। मैं अब बड़ा हूँ, अतएव आपको अब अपना मोह दौर्बल्य कम करना चाहिए।

एक बात की ओर मुझे आपत्ति है। आप कभी मेरी आर्थिक दशा पर दया और सहानुभूति करती हैं। इसके लिए मैं अपका कृतज्ञ हूँ। परन्तु जो आप समय समय मुझे कुछ आर्थिक सहायता देने लगती हैं, वह मुझे न चाहिए। भारतवर्ष में बहुत ऐसे स्थान हैं जहाँ आप अपनी उदारता का परिचय दे सकती हैं। मुझे मेरे भाई व्यय करने को पर्य्याप्त धन देते हैं। अपने अन्तिम पत्र के साथ आपने लगभग १०००) रु० के आभूषण

उतार कर पारसल द्वारा भेजे हैं। आपके कथनानुसार इस समय आपके पास इतनी ही सम्पत्ति है। और प्राण-त्याग के पश्चात् आप उसे मुझे समर्पण करना चाहती थीं। मैं उन्हें आपको वापस करता हूँ। मुझे ये न चाहिए। मुझे जो कुछ चाहिए उसका विवरण आपको मेरी डायरी के भावों से लगेगा। मैंने एक पहाड़ पर बड़ी ही दुःख की अवस्था में इन भावों को लेखनीबद्ध किया था—"हे भगवन्! मेरी प्रार्थना सुनिए! मैं कुबेर का धन नहीं चाहता। मुझे जगत् के अस्थायी सुखों की भी वाञ्छा नहीं।...........प्रसिद्धि और ख्याति उपलब्ध करने की भी मेरी इच्छा अत्यन्त छोटी है। मैं केवल आवश्यक सुखों के साथ जीवन निर्वाह करना चाहता हूँ। यदि वे घर में उपलब्ध न हों, तो मैं उन्हें भी परित्याग करने को प्रस्तुत हूँ। भगवन्! ये केवल वाक्य ही नहीं हैं, इनमें सार और तत्व है। तू सर्वव्यापी है। मैं केवल यह चाहता हूँ कि सुखी जीवन से भारतवर्ष की सेवा करूँ। मुझमें ऐसी शक्ति भर दे, कि इस बलवती इच्छा को कार्य-रूप में परिणित कर सकूँ।"

पूज्या माता जी, अब आपको इन पंक्तियों से मेरे ।वन का लक्ष्य मालूम हो गया होगा।

यह पत्र बहुत बढ़ गया है। अब मैं इसे समाप्त करता हूँ। यदि इसमें कुछ अनुचित लिखा गया हो तो क्षमा कीजिएगा। मुझे इस संसार में आपकी बड़ी आवश्यकता है। आप यदि इस समय स्कूली शिक्षा देकर मुझे आगे बढ़ाने में अपने आपको असमर्थ पाती हैं तो और भी बहुत बातें आपको सिखाना है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मुझे पग-पग पर आशीर्वचन देकर मेरे ऊपर रक्षा का हाथ आपके बिना कौन रक्खेगा ? अतएव प्रत्येक दशा में मुझे आपकी आवश्यकता है।

आपका स्नेही पुत्र,

रमेश

इस पत्र को आद्योपान्त पढ़ जाने तक भी उस वृद्धमहिला के नेत्र न खुले। मैंने इसे पढ़कर धीरे से उसके हाथों में दे दिया। शीघ्र ही मेरा ध्यान उस महिला के अञ्चल की ओर गया। उसमें कुछ बँधा हुआ था। मैंने अनायास उसे खोल लिया। इसमें एक लिफाफा था; उसमें 'रमेश' का नाम और पता लिखा था और इसके भीतर एक पत्र था। लिफाफा अभी बन्द न था। मैंने झट से पत्र को निकाल कर पढ़ना आरम्भ कर दिया:—

प्रेम मन्दिर,
कानपुर ५-५-१६२७

आयुष्मान प्रिय पुत्र रमेश,

तुम्हारा बड़ा सा पत्र मिला। सम्भवतः इतना बड़ा पत्र तुमने मुझे कभी नहीं लिखा। मुझे बड़ा हर्ष है कि तुमने इतना समय तो मेरे लिए व्यय करना उचित समझा। इस पत्र से तुम्हारे हृदय के भाव और मेरे प्रति तुम्हारे स्नेह का परिचय प्राप्त हुआ है। यह सुनकर कि तुम कानपुर आओगे, मैं अपने प्यारे रमेश के सिर को अपने उत्संग में रखकर अपने हाथों से जिमाऊँगी, चित्त की प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती।

तुम में लज्जा की मात्रा है; मैं इसे तुम्हारा आभूषण समझती हूँ। परन्तु कहाँ पर और किसके प्रति इसका प्रयोग करना चाहिए, इस विषय में विवेक से काम न लेना खटकता है। तुम्हारे बहुत मित्र हैं, और होंगे; परन्तु मुझे भी उन्हीं की कोटि में रखकर, और अन्य सम्बन्धियों की भाँति समझने में मुझे दुख होता है। सम्भव है इससे अधिक आशा करना मेरी दुर्बलता हो।

तुममें तर्क का प्रयोग बढ़ गया है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। परन्तु प्रिय पुत्र, यह स्मरण रखना कि तर्क के प्रयोग ऐसे स्थान पर न होना चाहिए जिससे किसी चित्त को दुःख हो। हमारे शास्त्रों में शास्त्रार्थ करने के तीन प्रकार के मनोविज्ञान दिखलाये गये हैं। प्रथम प्रकार का शास्त्रार्थ वह है जिसमें शास्त्रार्थ करने वाले अपने विपक्षो पर विजय पाने के लिए किसी भी निन्दनीय व्यापार का आश्रय लेना उचित समझते हैं। इस शास्त्रार्थ को शास्त्रों में 'वितण्डा' बतलाया गया है, और यह निन्द्य समझा जाता है। दूसरी कोटि के शास्त्रार्थ को 'जल्प' कहते हैं। शास्त्रों में इसका भी उल्लेख है। इसमें शस्त्रार्थ करने वाले केवल अपनी वाक्-पटुता और वाक्-व्यापार का परिचय देना ही मुख्य ध्येय समझते हैं। अन्वेषण करके तर्क को इस प्रकार तोड़ते-मड़ोरते हैं, कि अपनी बात सिद्ध कर सकें। इनका मुख्य विचार केवल यह रहता है कि वाक्-व्यापार में दूसरे को परास्त कर सकें। यह भी निम्न कोटि का ही शास्त्रार्थ है। वर्तमान युग के कालेज के विद्यार्थी बहुधा इसी कोटि के शास्त्रार्थ में समय व्यतीत करना

अपना ध्येय समझते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। तर्क का यह दुरुपयोग मात्र है।

तीसरे प्रकार का शास्त्रार्थ शास्त्रों में 'वाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह बड़े शुद्ध भाव से सत्यता के अन्वेषण के लिए किया जाता है। तर्क का आश्रय केवल इसलिये लिया जाता है कि विचार-प्रणाली में कोई दोष न आ जाय जिससे सत्य के अनुसन्धान में कठिनता हो।

प्रिय पुत्र रमेश, सारे तर्क का मुख्य ध्येय इसी प्रकार का 'वाद' करने का होना चाहिए। मैं समझती हूँ कि तुम इस बात का ध्यान अवश्य रखोगे। तुमने अपने तर्क का व्यवहार मुझ अपढ़ के प्रति करने की धमकी क्यों दी है? यदि तुम यहाँ होते तो तुम्हारे गालों पर दो थप्पड़ लगाती और तुम्हारा तर्क भुला देती।

अब मैं अपनी शक्ति के अनुसार तुम्हारी बातों का उत्तर दूँगी। तुम्हारा पत्र मैंने कई बार पढ़ा। मुझे तो पूर्ण विश्वास था कि तुम इतने ही ऊँचे व्यक्ति हो जितना कि तुम्हारे पत्र से पता चलता है। तुम्हारा हृदय-गाम्भीर्य, विचार-सरसता, दैवी-उदारता तथा भाव-निर्दोषता और भी स्पष्ट रूप में पत्र से प्राप्त हो गयी। तुम भी एक कविता पूर्ण हृदय रखते हो, यह मुझे आज ही ज्ञात

हुआ। तुममें मेरे प्रति मातृ-प्रेम है यह मैं पहले से ही जानती थी परन्तु जिस प्रेम-वीणा के तार के अस्फुट स्वर की चर्चा तुमने की है, उसी की शिकायत थी। यदि मैं पर्य्याप्त रूप में तुममें अपने प्रति मातृ-स्नेह उत्पन्न न कर सकी, तो इसमें मेरा ही दोष है। मेरे वात्सल्य भाव में कुछ न्यूनता है। तभी तो पुत्र-प्रेम-तंत्री मेरे स्नेहाङ्गुलि से स्फुट रूप से, निनादित नहीं होती। मेरी सारी तपस्या और युक्ति केवल उसी को स्फुट करने का प्रयास मात्र है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दशरथ की भाँति यदि मैं प्रेम में पुत्र के कारण शरीर त्याग दूँगी तो मेरा अधिक कल्याण होगा। मैं अगले जन्म में फिर तुम्हारे ही घर में उत्पन्न हूँगी और ईश्वर से यह प्रार्थना करूँगी कि वह मुझे अब की बार तुम्हारी पुत्री बनावे जिसमें तुम्हारा अनुराग मेरे प्रति कुछ विशेष हो और तुम सन्तान-प्रेम का महत्व अवगत कर सको और यह भी जान सको कि सन्तान की उपेक्षा से माता-पिता को कितना कष्ट होता है। तुम्हारी पुत्री रहकर मुझे भी फिर एक बार तुम्हारे ऊपर स्नेह स्थिर और दृढ़ रखने का अवकाश मिल सकेगा। मुझे पूरा विश्वास है कि इस शरीर-त्याग के पश्चात् ईश्वर अवश्य मेरी इस इच्छा की

पूर्ति करेगा। सूरदास का उपदेश है —

"जहाँ लगी हैं लगन रावरी पइहौ उत ही धाम,

जानु मन प्रेम करन की बान।"

यदि तुमको मातृ-प्रेम करना आता ही न होता तो सम्भवतः मुझे इतना कष्ट न होता। तुमने मेरे सामने बहुत हँसा है। कई बार कूद-कूद कर मेरे उत्संग में बैठ गये हो। अपनी अव्यक्त वाणी से मुझे माँ माँ कहकर गले से लिपट गये हो। मेरे चूँमने से प्रसन्न हुए हो और अपना गाल मेरे निकट ले आये हो। मेरे कर्ण-विवर तुम्हारे मातृ-स्नेह के मधुर राग को स्फुट से स्फुट शब्दों में सुन चुके हैं; परन्तु उसमें कमी हो जाने से ही मुझे कष्ट होता है। तुम आयु में बड़े अवश्य हो गये हो इसी से सम्भवतः लजाते हो। परन्तु मेरे लिए तो वैसे ही छोटे बालक हो, जिसे मैं गोद में लेकर खिलाया करती थी। मैं केवल तुम्हारे मातृ-भाव के प्रेम-राग को स्फुट स्वर में स्थायी रूप से सुनते रहने की ही उत्सुक हूँ। सारा स्वर्ग-सुख मैं इसी पर उत्सर्ग कर सकती हूँ। इसी का अभाव मरण का आमंत्रण है।

तुम्हारे कथनानुसार मैं आत्म-हत्या करके अपने अन्य सम्बन्धियों के साथ कर्तव्य पालन न

करूँगी यह तुम्हारी भूल है। यदि तुम्हारे प्रति, एक ओर, मातृ स्नेह बढ़ाने तथा उसे परिपक्व अवस्था तक पहुँचाने के लिये यह आवश्यक हो, कि मैं अपने इस पार्थिव शरीर का परित्याग करके दूसरे जन्म में सत्य स्नेह बढ़ाती रहूँ—जब तक तुम्हारी यह स्थिति न हो जाय कि तुम मेरी उपेक्षा न कर सको—और, दूसरी ओर, अन्य सम्बन्धियों के प्रति मेरा कर्त्तव्य यह कहता हो कि शरीर त्यागना पाप है, तो मेरी स्थिति क्या होनी चाहिये? जिससे मेरी आत्मा का विकास होता है, जिसको अपनी गोद में रखकर मैं स्वर्ग का सुख अनुभव करती हूँ, उसका परित्याग मैं कैसे कर सकती हूँ। सैकड़ों सम्बन्धी उसपर न्योछावर हैं। महाराज दशरथ के तो रामचन्द्र के अतिरिक्त और भी पुत्र थे। उनके भी प्यारी पत्नियाँ थीं। उनके भी राज का ठाट-बाट और प्रचुर धन-धान्य था; परन्तु शरीर-त्याग के समय क्या उन्होंने किसी प्रलोभन का ध्यान किया? क्या उत्तरा के रोने ने वीर अभिमन्यु को युद्ध में जाने से रोका था? शत्रु से मिलने पर लौकिक कलंक की आशंका ने क्या विभीषण के भक्ति-भाव की प्रेरणा को रोका था? क्या सम्बन्धियों के मोह ने अर्जुन को युद्ध करने से पराङ्मुख किया था? यदि ऐसा नहीं तो

संसार का कौन ऐसा मोह है, जो मेरे कर्त्तव्य से मुझे च्युत कर सकता है ?

मुझे भी विश्वास है कि तुम मेरी ये बातें समझ गये होगे। यह बात उतनी जटिल नहीं हैं जैसी तुम समझते हो। कारण यह कि जब दो महान कर्तव्यों में सङ्घर्षण होता है तो श्रेष्ठतर कर्तव्य का ही पालन किया जाता है। उस समय मिथ्या-मोह में फँसकर उच्च कर्तव्य से विचलित होना दुर्बलता है।

तुम्हारा भविष्य क्या होगा इस सम्बन्ध में मुझे बड़ी-आशा है। मैं तो उसे घटित-सा देखती हूँ। तुम्हारा भविष्य मेरे निकट हस्तामल-कवत् है। मैंने तो जब जो कुछ तुम्हारे लिए सोचा है वह घटित हुआ है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारा भविष्य बहुत उज्ज्वल है। तुम्हारे डायरी के उद्धरणों से तुम्हारे चित्त की पवित्रता का पता चलता है। तुम्हारी याचना बड़ी निष्कलङ्क है। अब इस पत्र के अगले अंश में मुझे अपने शरीर के दो नये आघातों को दिखाना है। यह बिल्कुल नये हैं और तुम्हारे पत्र-शल्य ने ही इन्हें विघटित किया है। यदि तुम्हारे पत्र के अधिकांश भाग में स्नेह का पुट न होता तो सम्भवतः मुझे और विकलता होती। मैं उनकी चर्चा नीचे करती हूँ।

तुम्हारी यह धारणा नितान्त निर्मूल है कि तुमको दूसरे के साथ कानपुर में देखकर मुझे रोष होता है। यदि तुम्हें मेरे सद्विचारों पर विश्वास है, तो मैं शपथ से कहती हूँ कि दूसरों के साथ हँसते-बोलते, खेलते देखकर मुझे अत्यन्त आनन्द होता है। हाँ, तुमने यह धारणा सम्भवतः इसलिए बना ली होगी कि तुम अभी विद्यार्थी हो, अतएव इधर-उधर बहुत समय व्यर्थ न नष्ट करो इसलिए मैं कभी-कभी कुछ कह दिया करती हूँ।

इस सम्बन्ध में एक बात और, है उसे भी मैं छिपाना नहीं चाहती। पर मैं जब तुमको तुम्हारे मित्रों के साथ घूमते, कूदते और उनके साथ तुमको प्रेम से मिलते उठते बैठते देखती हूँ तो मुझे बहुत अच्छा लगता है, परन्तु अपने मित्रों के पास बाहर जा कर दिन भर समय लगा देते हो परन्तु मेरे बारम्बार कहने पर भी तुम मेरे पास नहीं बैठते। मैं जानती हूँ कि तुम्हारे वे मित्र मुझसे शतांश भी तुम्हारा स्नेह नहीं करते और न सुख-दुख में तुम्हारे काम ही आवेंगे। यही व्यथा है। परन्तु यह विश्वास दिलाती हूँ कि मैं इतनी तमोगुणी नहीं हूँ कि तुम्हारे मित्रों से डाह करूँ। वे भी मेरे बालक के सामान

हैं। मैं मानव-समाज के अहित चाहने के लिए विश्व में पैदा नहीं हुई ।]मुझे केवल दुख इतना ही होता है कि तुम मुझे उतना भी अधिकार नहीं देते जितना अपने मित्रों को देते हो। मैं तुम्हारी माता नहीं हूँ ? तुम्हारे पत्र में बड़ी उत्सुकता के साथ मैं देखा करती हूँ कि तुमने अपने स्नेह में कोई परिवर्तन करने का विचार तो नहीं किया। जिस प्रकार तुम मुझे माता समझ कर मेरे विनोद में अपना विनोद मान कर घण्टों मेरे पास बैठकर जिस पुत्र-स्नेह का परिचय प्रचुर मात्रा में देते रहे हो उसमें अब कोई शिथिलता करने की बात तो नहीं सोची ? इसी पर मेरे भविष्य जीवन का सारा प्रासाद आधारित है। अतएव, प्रासाद की रक्षा करना अथवा उसे ढहा देना तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है। इसका उत्तर देना तुम्हें आवश्यक था। यद्यपि यह कल्पना मेरी सन्देहात्मक बुद्धि को कलङ्कित करती है तथापि तुम्हें इसका उत्तर देना आवश्यक है।

दूसरा घाव अधिक गम्भीर है। तुम्हारे वाक्यशल्यों ने मुझे मर्माहत कर दिया है। तुमने लिखा है कि आपको मेरी आर्थिक उदारता की आवश्यकता नहीं। संसार में अन्य पीड़ितों के प्रति मैं उसका प्रदर्शन करूँ। जिस

समय मेरा मन इन शब्दों को दुहराता है, अनायास आँसू गिरने लगते हैं। मैं कौन धनी हूँ जो किसी को उदारता दिखलाऊँ। संसार के पीड़ितों का स्मरण दिलाकर मेरी असमर्थता पर मुझे लज्जित करना है। संसार में मेरी उदारता का कौन भूखा है? तुम्हारे भाई तुम्हें व्यय देते हैं, यह कौन नहीं जानता। मैंने तुम्हें धनहीन कब जाना? मुझे स्वप्न में भी यह विचार नहीं आता कि मैं तुम्हारी आर्थिक सहायता कर सकती हूँ। क्या मैं तुमसे प्रश्न कर सकती हूँ कि मैंने तुम्हारे प्रति कौन उदारता दिखायी? पीने को बर्फ़, खाने को पान दे देना क्या आर्थिक सहायता में सम्मिलत है? यदि तुम बाहर से दो चार रुपये कीकोई वस्तु लाकर मुझे दो, जैसा कि बहुधा तुम करते हो, तो क्या यह आर्थिक सहायता हुई। वे कैसे पुत्र हैं जो माता से माँग-माँग कर व्यय किया करते हैं। कारण यही है न कि तुम मुझे दूसरी समझते हो। नहीं तो ऐसा छोटा विचार तुम्हें कैसे सूझता। यदि मेरे मातृ-प्रेम में परिपक्वता का बल होता तो तुम अपनी और मेरी वस्तुओं में अन्तर न समझते। म अपनी उदारता अन्यत्र प्रदर्शित करूँ, यह कैसी मर्मच्छेदी बात है। हे चिरञ्जीव रमेश, तुम जिस वस्तु पर ठोकर लगाते हो वह है ही कहाँ। उदारता और धन की

सहायता है ही कहां ? जिसे तुम ठोकर मारकर अस्वीकार कर रहे हो।

ख़ैर, मैं यह सबक़ सीख गयी कि किसी भी अपने काम में मेरे एक पैसे लगने को तुम अपमान समझते हो। अतएव मैं इसका भविष्य में ध्यान रखूँगी। मुझे वह बात श्रेयस्कर नहीं जिससे तुम्हारा अपमान हो। परन्तु साथ ही साथ भगवान से प्रार्थना करूँगी कि वह तुम्हारे मनोभावों को ऐसा परिवर्त्तित करदे कि तुम अपने और मेरे धन में कोई अन्तर न समझो।

मुझे तो यह आशा है कि तुम शीघ्र ही एक अच्छे विद्वान् और धनवान होगे। मैंने यह निश्चय किया था कि मैं अन्य आश्रयों को छोड़कर तुम्हारी ही रोटी पर आश्रित रहूँगी ? न मालूम क्यों मुझे अपने लिये यह एक गौरव की बात मालूम होती है। परन्तु आर्थिक सहायता सम्बन्धी इन तुम्हारी बातों ने मेरी अभिलाषा का मार्ग ही बन्द कर दिया। भविष्य में मुझे काहे को यह साहस होगा कि मैं तुम्हारी आश्रित होकर रहने की भावना को तुमसे प्रकट कर सकूँ। जब तुम मेरी छोटी-छोटी स्नेह भेंट में अपना अपमान समझते हो तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मैं किसी प्रकार की आशा तुमसे न रखूँ।

मैंने जो १०००) रुपये के अपने आभूषण तुम्हारे पास भेजे थे, उन्हें वापस करते हुए तुमने जो कुछ लिखा है वह भी अनर्गल है। मैंने तुम्हें यह सम्पत्ति इस लिए नहीं भेजी थी कि तुम्हें उसकी आवश्यकता थी; और न इस लिए कि उससे तुम्हारा कोई यथार्थ लाभ हो सकता है। मैं यह जानती हूँ कि वह तुम्हारे पाँच महीने का भी व्यय नहीं है। परन्तु वह भावना ही दूसरी थी जिससे प्रेरित होकर यह आभूषण तुम्हें भेजे गये थे। यदि ईश्वर ने तुम्हें दस करोड़ रुपये दिये होते तो भी यह धन तुम्हारे ही पास आता। तब भी तुम्हें इससे कोई अपमान न मानना चाहिए था। ईश्वर सब लोगों को देता है और सभी अपने रूखे-सूखे भोजनों से उसका भोग लगाते हैं। क्या इससे उसका अपमान होता है? ईसू मसीह ने उस निर्धन महिला के दान को सबसे उच्च स्थान दिया था, जिसने सबसे कम दान दिया था, परन्तु जो कुछ था सब दे दिया था। बस ठीक इसी भावना से वे आभूषण तुम्हारे पास भेजे गये थे। खैर, यदि तुम उनका मूल्य नहीं समझे तो जाने दो। मेरी असावधानी से वह पत्र रह गया जो मैंने इन आभूषणों के साथ भेजा था। जिस समय मैंने यह निश्चय

कर लिया था कि अब एक क्षण भी जीवित नहीं रहना चाहती; उसी क्षण और उसी मनोभाव में वह पत्र भी लिखा गया था और आभूषण भी भेजे गये थे। परन्तु एकाएक तुम्हारा पत्र आ जाने से मैंने अपना विचार स्थगित कर दिया है। परन्तु उस पत्र का कुछ अवतरण नीचे देती हूँ जिससे तुम मेरा मन्तव्य अधिक स्पष्टता से समझ लो।

प्रेम मन्दिर,

कानपुर ३-५-१९२७,

आयुष्मान् प्रिय पुत्र रमेश,

शतशारदायुष्वान् भव। यह अन्तिम पत्र है। साथ में मेरे आभूषण हैं इन्हें विक्रय कर लेना। सम्भवतः १०००) रुपये आवेंगे। इन रुपयों से मेरी पुत्र-वधू को दो सुन्दर साड़ियाँ लेकर मेरी ओर से भेंट कर देना। जब मेरी पुत्र-वधू को उन्हें पहने देखोगे तो तुम्हें मेरा स्मरण अवश्य आ जावेगा। मुझे इसी में सुख है कि मेरी किसी वस्तु का तुम या तुम्हारी पत्नी प्रयोग तो करेगी। बस, इन्हीं शब्दों के साथ सर्वदा के लिये अन्तिम विदा चाहती हूँ। केवल चार दिनों तक पत्र आने की प्रतीक्षा करूँगी।

अभी कोई घर पर नहीं है। मैं अपने कारण किसी को दुःख में नहीं डालना चाहती।

अधिक आशीष,

हतहृदया—माँ

इन शब्दों से तुम्हें स्पष्ट हो गया होगा कि इन आभूषणों के भेजने से मेरा क्या अभिप्राय था। जिस प्रकार के भाव तुमने उत्तर में व्यक्त किये हैं वे न तो तुम्हारे उपयुक्त हैं और न तुम्हें शोभा देते हैं। तुम ऐसा समझते होगे, ऐसी मेरी धारणा थी। फिर इस प्रकार हृदय को आहत करने वाले भाव तुमने न मालूम क्यों लिखे ? हाँ, यदि मुझे झूठ भी मालूम हो जाय कि तुम्हें धन की आवश्यकता है तो मैं आकाश-पाताल एक करके, अपना सर्वस्व निछावर करके, तुम्हारे लिए उसका प्रबन्ध करूँ। परन्तु यहाँ तो वह भावना तनिक भी न थी। मेरी तो केवल यह इच्छा थी कि मैंने तुम्हारा पालन-पोषण करने में अपना शरीर अर्पण कर दिया है, मन भी सर्वदा तुम्हारे पास ही रहता है—सर्वदा यही विचार होता है कि मेरा रमेश इस समय कैसा होगा—अब रहा केवल धन, वह भी जो कुछ है तुम्हारे ही पास जाना चाहिए था। बस इतनी ही बात है। खैर, जाने दो। अब तुम्हें

दुःख देने वाला कोई काम न करूँगी। बेटा, कानपुर शीघ्र आना।

कोटिशः आशीर्वाद,

दुखिया—माँ

इस पत्र को भी समाप्त करके मैंने अञ्चल में बाँध दिया। इतने में एक व्यक्ति निकट आ गया। वह मुझसे पूछने लगा कि क्या माताजी निःसंज्ञ हैं। मैंने कहा, हाँ। वह एक पात्र में निकटवर्ती जलाशय से जल ले आया और पास बैठ गया। पूछने से ज्ञात हुआ कि यह उस महिला का आत्मज है। मेरी ओर देखते-देखते उसके नेत्रों से अश्रु-बिन्दु पृथ्वी पर गिर पड़े। मैंने उसके दुःख का कारण कई बार पूछा। दोनों पत्रों के पढ़ने के पश्चात् चित्त में अनेक तर्क-वितर्क उठ रहे थे घटना का पूरा-पूरा क्रम-बद्ध पता अभी मुझे न लग सका था। बार-बार आग्रह करने से मुझसे इस व्यक्ति ने केवल इतना ही कहा, 'नहीं मुझे कोई कष्ट नहीं है'। मैंने कहा, "नहीं ऐसा नहीं हो सकता आपकी अविरल अश्रुधारा यह प्रकट करती है कि कोई बात अवश्य है—

रहिमन असुवाँ नैन ढरि, जिय दुःख प्रकट करेइ ;

जाहि निकासे गेह से, कस न भेद कहि देइ ।

यह छन्द सुनकर वह वेग से रोने लगा । मैंने उसे सान्त्वना दी । मेरे आग्रह करने से उसने बतलाया कि वह कानपुर सनातन धर्म कालेज के सेकेन्ड इयर सीटी का विद्यार्थी है । माता इसे 'गौरी' 'गौरी' कह कर पुकारती हैं । यह माता को बहुत प्रेम करता है और उसका सबसे छोटा पुत्र है । रमेश और इसने साथ-साथ इन्ट्रेन्स परीक्षा पास की थी । इन दोनों बालकों में बड़ी मित्रता है । गौरी ने अपने रोने का कारण केवल यह बतलाया कि उसे माता के स्वास्थ्य का बहुत क्षोभ है । वह बहुत कृश हो गयी हैं और सम्भव है उनकी मृत्यु भी शीघ्र ही हो जाय । मैंने पूछा कि यह तो कहिए कि क्या रमेश इनका दत्तक पुत्र है । उसने उत्तर दिया कि दत्तक पुत्र हो नहीं, पर वह अपने पुत्र से कहीं अधिक उस पर प्रेम करती हैं । मुझे वह रमेश का आधा भी प्यार नहीं करतीं । रमेश को अपने हाथों से खिलाया और पढ़ाया है । उसको इतना योग्य बनाने में उनका बहुत बड़ा हाथ है । रमेश के माता-पिता कोई नहीं हैं, अतएव उनको और भी उसकी चिन्ता रहती है । वह उसी की चिन्ता में सर्वदा लगी

रहती हैं। मैंने पूछा कि क्या रमेश बड़ा कठोर हृदय है। इस पर गौरी ने उत्तर दिया कि नहीं, ऐसी बात नहीं है। वह बड़ा सरल हृदय है। वह भी माता से प्रेम करता है। परन्तु शर्मीला होने के कारण और आत्माभिमानी होने से वह कभी-कभी माता के प्रति बड़ी निर्दय उपेक्षा करता है; इसी से वे क्षुब्ध हो जाती हैं।

इस पर मैंने कहा कि रमेश को अब बुलाकर समझाना चाहिए, नहीं तो माता जी का सम्भवतः शरीर ही नाश हो जायगा।

इतने में गौरी ने माता के मुख पर थोड़ा जल डाला। परन्तु दाँत बँधे रहने के कारण उन्होंने उसे स्वीकार न किया। नाड़ी देखने से ज्ञात हुआ है कि उसकी गति अत्यन्त मन्द है। गौरी बहुत घबड़ाया। वह चिल्लाकर रो उठा। मुझसे कहने लगा कि मैं घर जाकर बड़े भाई को ले आता हूँ आप यहीं रहिये। इतना कहकर उसने एक बार फिर मुँह में पानी डाला। पानी भीतर न जा सका। फिर गौरी रो उठा और कहने लगा, 'रे दुष्ट रमेश तूने माता के प्राण ले लिये। क्या इसी लिये तुझे उन्होंने पाला था ?' रमेश का नाम सुनते ही वृद्ध महिला उठ बैठीं और कहने लगी, "कौन है, रमेश !" गौरी दूसरी

ओर देख रहा था और क्रोध से रमेश के प्रति कटु शब्द दोहरा रहा था। उन्हें सुनकर वृद्धा माता ने बड़े उच्च स्वर से कहा, यह कौन मेरे प्रिय आयुष्मान् रमेश को कटु शब्द कह रहा है। मेरी आँखों से हट जा। मैं रमेश की निन्दा स्वप्न में भी सुनना नहीं चाहती। वह मेरा प्यारा बेटा है। सर्वश्रेष्ठ बेटा है। संसार का एक बड़ा भारी व्यक्ति है, मेरी लहलहाती हुई आशा है, वह सर्वोत्तम है। वह भगवान है। उसे कोई मेरे सामने कुछ नहीं कह सकता। इन शब्दों को सुनकर गौरी लज्जित हो गया उसने नतमस्तक होकर कहा, 'माँ मुझे क्षमा करो'। तुम्हारा दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। मैं रमेश को स्वयं प्रेम करता हूँ। मैं उसका अहित कैसे विचार सकता हूँ। अब यदि आप स्वस्थ हों तो घर चलिये। लगभग रात्रि के १२ बज गये हैं।

उस वृद्ध महिला ने मेरा भी परिचय प्राप्त किया। मैंने उत्सुकता के साथ कहा—माता, मुझे आप क्या इतना प्यार कर सकती हैं? आपके प्रेम से मेरा कल्याण होगा। रमेश की भाँति मैं भी उन्नति कर जाऊँगा। कल प्रातःकाल आपके दर्शन करूँगा। मैंने गौरी से आपका निवास स्थान जान लिया है मेरी बातों के उत्तर में

महिला ने केवल इतना ही कहा—अवश्य आइएगा और गौरी के कंधों पर हाथ रखकर उठकर चली गयीं।

मैंने यह सोचा कि यदि यह अपना पुत्र-स्नेह मेरे ऊपर केन्द्रीभूत कर दे, तो दोनों का उपकार हो। मैं उन्नति कर सकूँगा और इसे भी दुःख न होगा, क्योंकि मैं इसके प्रति कभी रमेश की भाँति उपेक्षा न करूँगा।

रात्रि अधिक हो गयी थी। इसी विचार-धारा में निमग्न मैं निद्राक्रान्त हो गया। प्रातःकाल पाँच बजे नेत्र खुले। मैंने इधर-उधर देखा, परन्तु कोई न था।

देव-मन्दिर की क्रीड़ास्थली के अभिनेता भी अभिनय करके चल दिये। दर्शकों में मैं केवल एकाकी था। यह मर्मस्पर्शी नाटक देखता रहा।

देव-मन्दिर से मैं नीचे उतरा। निकट के अर्द्ध-शुष्क जलाशय में पुरीष-आहारी पशु आनन्द से लोट रहे थे। मैं ग्राम की ओर चल दिया। ग्राम में प्रवेश करते ही निकट के एक भवन से करुण-क्रन्दन की एक महान तुमुली ध्वनि श्रवणगोचर हुई। उसके द्वारा आकृष्ट होकर मैं उसी भवन में जा पहुँचा। मुझे ज्ञात हुआ कि एक षोडश-वर्षीय बालक की अचानक मृत्यु हो जाने के कारण उसके माता-पिता और अन्य निकटवर्ती सम्बन्धी बड़े वेग से

क्रन्दन कर रहे हैं। अपने माता-पिता का यह एकाकी पुत्र था। उनके करुण-क्रन्दन से हृदय विदीर्ण हो रहा था। अनायास ही मेरे भी अश्रुधारा उद्‌गमित हो निकली। थोड़ी देर बैठा-बैठा मैं यह दृश्य देखता रहा। अन्त में मृत बालक का शव लेकर जब उसके सम्बन्धी वहाँ से चल दिये तो मैं और आगे बढ़ा। दाहिनी ओर मैंने एक कौवे के मृत-शावक को पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखा। उसे किसी शिकारी पक्षी ने पकड़ लिया था। परन्तु किसी कारण वह उसके बन्धन से निकल कर पृथ्वी पर गिर पड़ा था। उसके चारों ओर मण्डलाकार वायस-समूह एक महान चीत्कार मचाये था। इस मृत-शावक से भी उनको इतना प्रेम था कि वे किसी ओर ध्यान न करके महान रव कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि ये यमराज के द्वार पर सत्याग्रह करना चाहते हैं और सब सामूहिक रूप से उसके घर में प्रवेश कर जाना चाहते हैं। परन्तु इनके पूर्वज काकभुसुण्ड जी के भक्तिभाव से भयभीत होकर इनके प्रति यमराज को अनायास ही करुणा प्रदर्शित करनी पड़ती है। इस दृश्य से भी हृदय द्रवीभूत हो आया। थोड़ी देर तक निर्निमेष होकर यह दृश्य देखता रहा।

फिर और आगे बढ़ा। सामने वृक्ष पर एक मकड़ी

अपने मृत-बालक को बलात् कर से ग्रहण किये धीरे-धीरे एक डाल से दूसरी डाल पर कूद रही थी। उसकी दृष्टि से, उसकी चाल से, अपार वेदना झलकती थी। इस मृत बालक से भी इसे उतना अनुराग था जितना कि सम्भवतः मानव-समाज अपने जीवित बालक से भी न करता होगा। इसकी दशा पर मुझे दया आ गयी। मैं यह सोचने लगा कि भगवान यदि मुझमें कोई ऐसी दैवी शक्ति देता कि जिससे मैं जीव-सञ्चार कर सकता तो मैंने इस वानर के मृत बच्चे को तुरन्त जीवित कर दिया होता।

आगे चल कर मुझे एक ऐसा ही दृश्य और देखने को मिला। एक अहीर अपनी गाय दुह रहा था। गाय के मुँह के पास एक मनुष्य खाल में भूसा भरा हुआ गाय का बच्चा लिये हुए खड़ा था। पूछने से ज्ञात हुआ कि यह उसी गाय का बच्चा है। अभी थोड़े ही दिन हुए यह मर गया है। गाय इसको इतने चाव से चाटती थी कि मानो यह बच्चा जीवित है। मुझे पशु की इस मूर्खता पर करुणा आ गयी। वात्सल्य प्रेम के इस प्रदर्शन को देखकर हृदय में प्रेम भावना उमड़ आयी। सहानुभूति के आँसू निकल

पड़े। मैं प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। मुझे उसी क्षण दक्षिण के प्रसिद्ध सन्त तरुवल्लुवर की उक्तियाँ प्रेम के सम्बन्ध में स्मरण हो आयीं। आपने प्रेम के विषय में कहा है—

(१) "ऐसा डेरा अथवा डंडा कहाँ है जो प्रेम के दरवाजे को बन्द कर सके? प्रेमियों की आंखों के सुललित अश्रु-बिन्दु अवश्य ही उसकी उपस्थिति की घोषणा किये बिना नहीं रहते।

(२) "जो प्रेम नहीं करते हैं वे केवल अपने ही लिए जीते हैं परन्तु वे जो दूसरों से प्रेम करते हैं उनकी हड्डियां भी दूसरों के काम आती हैं।

(३) "कहते हैं कि प्रेम का आनन्द लेने के लिए ही आत्मा एक बार फिर अस्थि-पिञ्जर में बन्दी होने के लिए प्रस्तुत हुआ है।

(४) "प्रेम से हृदय स्निग्ध हो उठता है और उस स्नेह-शीलता से ही मित्रता रूपी बहुमूल्य रत्न पैदा होता है।

) "लोगों का कहना है कि भाग्यशाली का सौभाग्य—इस लोक और परलोक दोनों स्थानों में—उसके निरन्तर प्रेम का ही पारितोषिक है।

(६) "वे मूर्ख हैं जो कहते हैं कि प्रेम केवल नेक मनुष्यों ही के लिये है; क्योंकि बुरों के विरुद्ध खड़े होने के लिये भी प्रेम ही मनुष्य का एक मात्र साथी है।

(७) "देखो अस्थिहीन कीड़े को सूर्य किस प्रकार भस्म कर देता है। ठीक उसी प्रकार नेकी उस मनुष्य को जला डालती है जो प्रेम नहीं करते हैं।

(८) "जो मनुष्य प्रेम नहीं करता है वह तभी फूले फलेगा जब मरु भूमि के सूखे हुये वृक्ष के ठुण्ठ में कोपलें निकलेंगी।

(९) "वाह्य सौन्दर्य किस काम का जब कि प्रेम, जो आत्मा का भूषण है, हृदय में न हो।

(१०) "प्रेम जीवन का प्राण है। जिसमें प्रेम नहीं वह केवल माँस से घिरी हुई हड्डियों का ढेर है।"

प्रेम के ऊपर इन सूक्तियों पर विचार करते-करते मैं मस्त-सा हो गया। सारा संसार प्रेममय दीखने लगा। मैं यह सोचने लगा कि माता-पिता, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी से प्रेम करना चाहिये। इन्हीं के प्रेम में मस्त रहना ही हमारा पुनीत कर्तव्य है। इसी विचार-धारा में प्रवाहित होकर मैं सूरदास का एक पद उच्च स्वर से गाने लगा और गाते-गाते आगे बढ़ा। पद यह था—

जानु मन प्रेम करन की बान,
कहा भयो जो पिउ नहि रीझत,
राखहु उतही ध्यान,
पिउ कारन सब घर-बन त्यागहु,
प्रीति न होवे म्लान,
इतनेहु मा जो पिउ नहि रीझत,
त्यागहु अन सम प्रान,
जहाँ लगी है लगन रावरी,
उतही पइहौ धाम,
सबहि आस प्रियतम पुरवैगो,
काहे करत गलान,
सूरश्याम प्रियतम सूझैगो,
मिलि करिहै कल्यान ।

ज्योंही मैंने अन्तिम चरण समाप्त किया त्योंही निकट-वर्ती एक देव-मन्दिर से मेरा अवधूत शिष्य निकला और वह भी मेरे राग में राग मिला कर उच्च स्वर से गाने लगा-

जानु मन प्रेम करन की बान

हम लोगों ने एक बार फिर उच्च स्वर से इस राग को दुहराया। हम दोनों व्यक्ति गाने में तल्लीन हो गये। देह की सुध-बुध सी भूल गयी। थोड़ी देर के पश्चात् अव-

धूत बोल उठा, "वाह गुरु जी, कितना सुन्दर गाना आपने सुनाया। इसमें जीवन का सारा रहस्य छिपा हुआ है। धन्य हैं आप।"

इस पर मैंने उससे पूछा कि भाई उस दिन सोते छोड़ कर कहाँ भाग गये थे। उसने मेरी बात को टालकर कहा, सोने वाले के पास कौन बैठता है ? परन्तु यह तो बतलाइये कि आपने यह गाना कहाँ सीखा। इस पर मैंने उत्तर दिया, "भाई यह न पूछो। मैंने इधर थोड़े दिनों से यह अनुभव किया है कि वास्तव में संसार में सब से प्रेम करना ही जीवन का ध्येय है। इसके बाद मैंने सन्तवर तरुवल्लुव्वर की सूक्तियाँ भी सुना दीं और यह भी कहा कि मैंने निश्चय किया है कि जो मिलेगा उसी से प्रेम करूँगा। उसी के साथ जीवन निर्वाह करूँगा। परन्तु हाँ, जिससे प्रेम करो उसके मर जाने से या उसको उदासीनता से बड़ा कष्ट होता है। इसकी क्या औषधि है ?

वह बोल उठा—गुरु जी, आपने तो सन्तों के प्रेम के सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर व्याख्यान सुना था, फिर आपको प्रेम क्या है, इसको समझने में क्यों कठिनाइयाँ होती हैं। गुरुवर मोह दूसरी बात है, प्रेम एक दूसरी बात। प्रत्येक जीव के मोह में फँसने से कष्ट अवश्य होता है। यह

कोई प्रेम का वास्तविक स्वरूप थोड़े ही है। प्रेम मानवीय होते हुये भी दैवी है। इसमें सत्यता और निष्ठा है; योग और मोक्ष है। आप प्रेम के उच्चतम सिद्धान्तों की वस्तुतः ठीक प्रशंसा करते हैं, परन्तु उनका सन्निवेश सांसारिक मोह में करना ठीक नहीं। मोह और प्रेम में जो कुछ वाह्य सादृश्य दृष्टिगोचर होता है वह केवल वास्तविक सादृश्य नहीं। वास्तव में दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। अतएव हे भगवान् मिथ्या सांसारिक मोह को ही कहीं प्रेम न समझ बैठिएगा। मोह वह वस्तु है जिसने पाण्डव शिरोमणि अर्जुन के मस्तिष्क को महा भारत के युद्ध के समय आच्छादित कर दिया था। जिससे अर्जुन को बचाने के लिये कृष्ण भगवान् को सारी गीता का उपदेश करना पड़ा। अर्जुन को अपने सम्बन्धियों के प्रति जो मोह था उसका प्रस्रोत एकाएक उमड़ पड़ा, जब उसने यह देखा कि मुझे इनका विनाश करना पड़ेगा।

इस पर मुझे गीता के सम्बन्ध में जो शङ्काएं थीं उनका स्मरण हो आया। मैंने जब-जब गीता सुनी और पढ़ी थी तब-तब मुझे यही प्रतीत हुआ था कि कृष्ण ने अर्जुन

को ख़ूब टाला। उनको उन्होंने वास्तव में तर्क-पूर्ण उत्तर ही नहीं दिये। यही बात मैंने अवधूत से कह डाली। मैंने कहा कि कृष्ण ने अर्जुन की दलीलों के जो उत्तर उनके मोह को छोड़ने के लिए दिये हैं, उनमें टाल-मटोल की गयी है।

इस पर अवधूत ने कहा, 'गुरु जी, कुछ मुझे भी बतलाइये, कहाँ पर कृष्ण जी ने टाल-मटोल करने की चेष्टा की है।'

मैंने कहा, भला आप ही बतलाइए कि अर्जुन विचारा तो युद्ध की बुराइयों का दिग्दर्शन करा रहा था वह यह कह रहा था कि गुरुजनों की हत्या करने से पाप होता है वह यह कह रहा था कि कुलक्षय से वर्णसङ्करता उत्पन्न होती है। उसके तर्कों का उत्तर न देकर आप उसे एक बालक की तरह डाँट कर कहने लगते हैं—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम (कीर्ति) करमर्जुन॥
क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

इसीलिए तो अर्जुन को सन्तोष नहीं हुआ और वे फिर कहने लगे—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥
गुरूनहत्वाहि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव, भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थितः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥
कार्पण्य दोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मेशिष्यस्तेऽहंशाधिमांत्वांप्रपन्नम्॥
नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥

परन्तु फिर भी क्या कृष्ण ने उपयुक्त उत्तर दिया। वे यों ही अनायास कहने लगे—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूश्चनानुशोचन्ति पण्डिताः॥

अर्जुन सिपाही था। उसके मस्तिष्क में कृष्ण ऐसे दार्शनिक व्यक्ति से तर्क करने की सामर्थ्य न थी। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के झगड़ों में डाल कर उसे चका-चौंध कर दिया। उसने यह कह ही दिया था, "शिष्यस्ते ऽहं" बस फिर क्या था। बातें बनाकर कृष्ण जी ने उसे लड़वा ही तो दिया।

इस पर अवधूत ने कहा, "तो क्या कृष्णजी ने आत्मा और परमात्मा के विषय में जो कुछ कहा है उसे आप ठीक नहीं समझते ?"

मैंने उत्तर दिया, नहीं, यह बात नहीं है कि मैं उसे ठीक नहीं समझता; परन्तु मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण जी ने बहुत सी बातें यों ही कह डाली हैं। आप कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

परन्तु आपने यह नहीं सोचा कि अर्जुन ने तो पूर्व ही कह दिया था कि—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधु सूदन
अपित्रैलोक्य राज्यस्यहेतोः किन्नु महीकृते ।

जो व्यक्ति त्रैलोक्य राज्य को भी छोड़ने को प्रस्तुत है उसे स्वर्ग और भूतल के राज्य की लालच देकर उसकी बुद्धि सकाम कर्म की ओर प्रेरित करना—और उसी सकाम कर्म को आगे हेय बतलाना और लोगों को निष्काम कर्म करने का आदेश देना—कितना अन्याय है। वास्तव में यहाँ कृष्ण जी ने अर्जुन के संकुचित धार्मिक भावों को उभारने का प्रयत्न किया है। और उसे युद्ध

करने की ओर किसी प्रकार से प्रेरित करने का यह साधन निकाला है। आगे निम्नलिखित श्लोकों में कृष्ण जी ने स्पष्ट रूप से ऐसे कार्यों की निन्दा की है जो स्वर्ग पाने की दृष्टि से किये जाते हैं।

> यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
> वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
> कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म फलप्रदाम्।
> क्रिया, विशेष बहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति।
> भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
> व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

इन श्लोकों को पढ़ कर कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि कृष्ण जी ने यहाँ पर जिन "पुष्पतां वाचं" की निन्दा की है; आपने स्वयं उन्हीं का प्रयोग—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्"

के वाक्य में किया है।

अर्जुन को इस सकाम कर्म की ओर अयोजित करके फिर कृष्ण जी कैसे यह आशा करते हैं कि उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधिस्थ हो सकती है।

और फिर निष्काम कर्म की भी बात कुछ समझ में

नहीं आती। यदि हम अपने ध्येय की ओर दुर्लक्ष्य करेंगे तो हमारी कार्य-प्रणाली में उत्साह और स्फूर्ति न होगी। यदि हम यह ध्यान में ही न लावें कि हमें परीक्षा पास करनी है तो हमें पढ़ने में अवश्य उत्साह और स्फूर्ति न होगी। परीक्षा पास करने का ध्येय अथवा कीर्ति-प्राप्ति का ध्येय जब हम अपने समक्ष रखेंगे तभी हम अध्ययन में अधिक उत्साह और स्फूर्ति से काम लेंगे। अन्यथा हम केवल एक यन्त्र की भाँति काम करते रहेंगे और यह भी ज्ञान न होगा कि हम क्यों यह सब कर रहे हैं। अर्जुन ने युद्ध की इतनी बुराइयां दिखायीं कृष्ण जी ने उनका क्या उत्तर दिया ? जितने व्यक्तियों के हिंसा करने का परामर्श देना कहाँ तक न्याय-सङ्गत था और फिर यह भी बात समझ में नहीं आती—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

क्या एक मुसलमान के लिए, जो यह समझता है कि उसका धर्म ईसाई-धर्म और हिन्दू-धर्म से हेय है और जो यह विश्वास करता है कि अपने धर्म के अनुसार चलने से उसकी नैतिक और सामाजिक हानि है, यही श्रेयस्कर है कि वह अपने ही धर्म पर आरूढ़ रहे। चाहे उसे उसमें विश्वास हो अथवा न हो ?

इन सब बातों से कम से कम यह तो स्पष्ट है कि गीता में भी पोलें हैं। इतना कहकर मैं चुप हो गया। अवधूत मेरी बातों को दत्तचित्त होकर सुनता रहा। कभी-कभी बीच में मुस्करा दिया करता था। अपने सम्भाषण के पश्चात् मैंने अवधूत के नेत्रों की ओर देखा। मेरी यह धारणा थी कि इन नेत्रों में मेरे तर्कों का समर्थन होगा। परन्तु नेत्रों में अनुमोदन का पूर्ण अभाव सा ज्ञात होने लगा। इस पर मैं कह उठा, 'कहो भाई मेरी बातों पर आपकी क्या सम्मति है ?'

अवधूत ने कुछ सोचकर कहा, "गुरु जी, आपकी शङ्काएँ स्वाभाविक ही हैं और उनपर चित्त को उद्विग्न हो जाना भी नैसर्गिक है, परन्तु मेरे निकट ये शङ्काएँ उसी रूप में नहीं जैसी आपके समक्ष हैं। सम्भवतः मैं उन्हें किसी दूसरे ही विचार-बिन्दु से देखता हूँ।"

इस पर मैंने पूछा, "तो क्या आप मेरी शङ्काओं का यथोचित उत्तर दे सकते हैं ?"

इस पर अवधूत ने कहा, 'उपयुक्त उत्तर देने का तो भगवन, मैं अपने को अधिकारी नहीं समझता परन्तु मैंने गीता के इन विवाद-ग्रस्त विषयों पर जिस

प्रकार अध्ययन किया है, उसे आपके समक्ष अवश्य उपस्थित करूँगा।

यह बात अवश्य है कि पहले पहल कृष्ण जी ने व्यर्थ के ऊहापोहिक विवाद करना उचित नहीं समझा। उनकी यह धारणा थी कि यदि अर्जुन मोटी-मोटी बातों से ही युद्ध के लिए प्रवृत्त हो जाय तो सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तों का व्यर्थ में विश्लेषण क्यों किया जाय। इसी लिए तर्कों को न बतलाकर उन्होंने केवल निष्कर्ष ही सामने रख दिया था। इसमें अनभिज्ञता के कारण टालने की भावना न थी, वरन् सूक्ष्म-दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करना वे व्यर्थ समझते थे। कदाचित् वे यह समझते हों कि अर्जुन का मानसिक विकास अभी इतना नहीं हुआ है कि वह इन गहन विषयों में प्रवेश कर सके। हिन्दू शास्त्रों में जो यह लिखा है कि शूद्र बालक और नारी को वेद न पढ़ाना चाहिए; उसका भी यही तत्व है। इसका अर्थ केवल यह है कि जिसकी बुद्धि परिपक्व न हो उसे दार्शनिक सिद्धान्तों के परस्पर विरोधी तर्क न देना चाहिए अन्यथा वह किंकर्तव्य विमूढ़ होकर शिथिल सिद्धान्त वाला हो जायगा। धर्म-मूलों के अपवादों को सुनकर उनकी बुद्धि सिद्धान्त से च्युत हो जायगी। चाहे

वह शूद्र हो चाहे वह ब्राह्मण या, क्षत्री; चाहे बालक हो चाहे युवा या वृद्ध हो अथवा नारी या पुरुष हो; यदि बुद्धि परिपक्क नहीं है तो उसे दार्शनिक सिद्धान्तों के झगड़ों में न डालना चाहिए। सम्भवतः इसी विचार से कृष्ण ने पहले अर्जुन से अधिक तर्क करना उचित नहीं समझा। परन्तु जब अर्जुन ने अपने वक्तव्य से यह उद्घोषित कर दिया कि वे सूक्ष्म विवेचना के समझने की क्षमता रखते हैं तब कृष्ण ने उन्हें उच्च सिद्धान्तों की बातें सुनानी आरम्भ कर दीं।

कृष्ण जी के इस वाक्य पर कि 'हतोवा प्राप्यसि स्वर्गम्'—इत्यादि, हमें केवल इतना ही निवेदन करना है कि गीता कोई दर्शन शास्त्र नहीं है; यद्यपि दार्शिनिक सिद्धान्त उसमें भरे पड़े हैं। प्रत्येक बड़े ग्रन्थ के सभी भाग उत्कृष्ट नहीं होते और न प्रत्येक लेखक का लिखा हुआ सब का सब अच्छा ही होता है। यहाँ केवल कृष्ण जी ने क्षात्र-धर्म की विवेचना की है। इस दलील और बाद में दी हुई कर्म-योग शास्त्र की दलीलों में अन्तर है। यह दलील एक साधारण दलील है; जिसके द्वारा कृष्ण जी अर्जुन के मानवी भाव उभाड़ कर उन्हें कार्य में

रत करना चाहते थे । इसमें तत्कालीन विचारों की छाप भी प्रतीत होती है ।

रहा युद्ध की वीभत्सता के सम्बन्ध में, यह सभी मानते हैं कि युद्ध के परिणाम भीषण होते हैं । परन्तु आज तक इसे भी किसी ने अस्वीकार नहीं किया कि युद्ध करना कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है । दुष्टों का विनाश करके उस हिंसा के द्वारा मनुष्य मानव-समाज के प्रति दुष्टों के द्वारा की जाने वाली घोर हिंसा को रोक सकता है ।

जहाँ तक निष्काम कर्म की बात है, मेरी यह धारणा है कि इस सम्बन्ध में आपके विचार कुछ भ्रमात्मक हैं । इसका अभिप्राय केवल इतना है कि फल-प्राप्ति में हमें आसक्ति न होनी चाहिए । फल को दृष्टि में रखने की विरोधी गीता नहीं है । वह तो केवल इतना कहती है कि फल में आसक्ति न होनी चाहिए । विफल हो जाने पर नैराश्य उत्पन्न हो जाता है और दुःख होता है । परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि विफलता अथवा फल-प्राप्ति की ओर दुर्लक्ष्य करना चाहिए । वास्तव में मानव-जीवन का उपयुक्त विकास विफलता की ठोकर और सफलता के आस्वादन से ही होता है ।

"स्वधर्मो निधनं श्रेयः" इत्यादि वाक्य में धर्म शब्द का प्रयोग मत अर्थ में नहीं किया गया और न इस प्रसङ्ग में कृष्ण जी के समक्ष किसी धर्म का ध्यान ही था। यहाँ स्वधर्म से केवल स्व-पैतृक व्यापार से अभिप्राय है। केवल इतना ही यहाँ पर ध्यान दिलाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जातिगत कर्मों का करना अधिक श्रेष्ठ है। अर्थात् एक अध्यापक के लिए आवश्यक है कि पहले वह अध्यापन कार्य करे, व्यापार न करने लग जाय। ऐसा करने से उसे हानि होने की आशङ्का है। वातावरण और पैत्रिक स्वभाव से हममें अपने पूर्वजों के व्यवसाय करने की एक नैसर्गिक क्षमता उत्पन्न हो जाती है। यह बात नहीं कि इस विषय में कोई अपवाद न हो सकते हों; परन्तु यह केवल सिद्धान्त की बात है। अपवाद केवल सिद्धान्तों को बलिष्ट बनाते हैं। यहाँ कृष्ण जी चाहते हैं कि अर्जुन अपने क्षात्र-धर्म का अवलम्बन करके युद्ध करे। ब्राह्मण-धर्म में पड़कर वैराग्य न प्रदर्शित करे।

इन सब बातों को सुनकर मुझे कुछ सन्तोष हुआ और गीता के सम्बन्ध में अन्य बातों के जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। मैंने पूछा, 'गीता में और कौन-कौन सी

अच्छाइयाँ हैं, जिससे वह इतना उच्च कोटि का ग्रन्थ माना जाता है।

इस पर अवधूत ने कहा, 'गुरू जी, आपने बहुत ही उपयोगी प्रश्न किया है। मैं अपने ज्ञान के अनुसार गीता की विशेषताएँ आपके समक्ष उपस्थित करूँगा।

गीता की विशेषताएँ अनेक हैं। उनका उल्लेख करना थोड़े से अवकाश में कठिन है परन्तु उन विशेषताओं में से कुछ मुख्य विशेषताओं का परिचय आपके सम्मुख उपस्थित करूँगा।

१—गीता एक वैज्ञानिक ग्रन्थ है उसमें विज्ञान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है—

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सत; ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभि; ॥

इसमें Ex Nihils Nihilest सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। गीता में तत्वदर्शी शब्द का भी विज्ञान वेत्ताओं के विषय में उपयोग किया गया है।

२—दूसरी विशेषता जो मुझे गीता में दृष्टित होती है वह यह है कि गीता ने सुख और दुख को कल्पित नहीं माना है। गीता उन्हें वास्तविक मानता है। अन्य शास्त्र उन्हें निस्सार मानते हैं; परन्तु गीता इस सम्बन्ध में

जितना स्पष्ट है उतने और शास्त्र नहीं। इस सम्बन्ध में गीता का यह श्लोक--

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा,।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

यह स्पष्ट बतलाता है कि इन्द्रियों के वाह्य पदार्थ के संस्पर्श से सुख दुःख अवश्य होंगे । दुख-सुख को चाहे कोई ज्ञानी कितना ही अनित्य समझे, परन्तु जब उसको किसी प्रकार की शारीरिक पीड़ा हो जाती है तो वह सब सिद्धान्त भूल जाता है। आग में कूद कर यदि कोई ज्ञानी कहे कि वह जलेगा नहीं, तो यह केवल विडम्बना मात्र प्रतीत होती है । अतएव गीता का यह वाक्य कि "इन्द्रियों का वाह्य पदार्थ से संस्पर्श करने से सुख-दुख होता है" बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है।

३—गीता का तीसरा वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि सृष्टि के यावज्जीव क्रिया-शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। क्रिया, शक्ति से ही उनका संवर्धन होता है और क्रिया शक्ति से ही उन्हें जीवन प्राप्त होता है। गीता का नीचे का श्लोक इसका साक्षी है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥

४—ऊपर बतायी हुई क्रिया-शक्ति का यथावत उपयोग करना पूजा है, उपासना है और ईश्वर की भक्ति है। इसका पुष्टीकरण नीचे के श्लोकों से होता है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरताः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथाविन्दति तच्छृणु ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

मनुष्य के विकाश में क्रियाशक्ति ही साधक है।

५—अपनी आत्मा की उन्नति और अवनति स्वयं मनुष्य के हाथ में है। अर्थात हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश और अपयश की विधि अपने ही हाथ में है। गीता के नीचे दिए हुए श्लोक इस बात के प्रमाण स्वरूप हैं—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मेव शत्रुवत् ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्ण सुख दुखेषु तथा मानापमानयोः ।

उद्धरेदात्मनोऽऽत्मानं नात्मानमव सादयेत्

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु रात्मेव रिपुरात्मनः ॥

६—इसी कथन के अनुसार गीता में सुख-दुःख देने वाला ईश्वर नहीं बतलाया गया।

नादत्ते कस्यचित्पायं न चैव सुकृतं विभुः।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

७—इसी प्रकार गीता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने योग की बड़ी सुन्दर और वैज्ञानिक परिभाषा की है। एक स्थान पर कहा है कि दुःख-संयोग-वियोग-विद्या को योग कहते हैं। दूसरे स्थान पर बतलाया है 'योगः क्रियासु कौशलम्।' वास्तव में ये दोनों परिभाषाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। अन्तिम परिभाषा में क्रियाशक्ति के सार विज्ञान निष्कर्ष का निचोड़ कर रख दिया गया है।

८—इसी प्रकार गीता में कर्म की परिभाषा बड़ी सुन्दर और वैज्ञानिक है। जिस विधान से विश्व का प्रादुर्भाव संवर्द्धन पुनश्च लय हो उसी को कर्म कहते हैं।

९—गीता में अध्यात्म-विद्या की भी परिभाषा दी है। 'स्वभावोऽध्यात्म, उच्यते।' अर्थात् प्रकृति के नियम और अनियम और उनका क्रिया-विधान का विज्ञान अध्यात्म विद्या है, और उसी का अध्ययन करना अध्यात्म विद्या का अध्ययन करना है।

१०—राजाधिराज योग की परिभाषा द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि अच्छे विचारों की शुद्धि से ही आत्म-शुद्धि होती है।

११—तप की परिभाषा में भी शरीर का तप, मन का तप इत्यादि विधान गीता में दिये हैं।

१२—वर्तमान् वैज्ञानिक अनुसन्धानों की पुष्टि गीता में यह कह कर, कि मन, चित्त, बुद्धि, अहङ्कार सब शरीर के साथ हैं, इसी के सूक्ष्म विन्यास हैं; की गयी है। बुद्धि के लिए तो स्पष्ट कहा है कि वह शरीर की ही व्यवहार-इन्द्रिय है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चचेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं चेतनाधृतिरेव च।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

१३—ज्ञान की परिभाषा गीता से सुन्दर सम्भवतः

कहीं किसी शास्त्र में दृष्टिगत न होगी। वह बहुत सूक्ष्म एवं व्याप्त है। ऊपर अध्यात्म-ज्ञान क्या है, यह बतलाया जा चुका है। गीता में तत्वज्ञान वर्तमान काल के विज्ञान शब्द के सदृश प्रयुक्त किया गया है। इसी के अनुसार गीता में ज्ञान की परिभाषा यह है—

अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोंन्थाः॥

१४—यदि गीता में भौतिक मत के प्रतिपादन का अन्वेषण किया जाय तो वह भी प्रमाण सहित उपलब्ध हो सकता है। यह श्लोक इसका स्पष्ट उदाहरण है:—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना॥
नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।

इत्यादि।

१५—अन्त में सब से बड़ी गीता की उस विशेषता की ओर ध्यान देना है, जिसमें कर्म करने का प्रतिपादन किया गया है। जन्म से लेकर अन्त तक कर्म करते रहने का आदेश है। इसी को मुक्ति का साधन बतलाया है।

यस्मिन्नोद्विजते लोको लोकान्नो द्विजते चयः ।
हर्षामर्ष भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स मे प्रियः ॥

गीता शास्त्र में हमारे लिए चुने हुए अभ्यास दिये हुए हैं। सद्मार्ग दिखलाया गया है। उसके ऊपर चलने की कठिनाइयों से बचने के उपाय भी बतलाये गये हैं।

इतनी बात कहकर अवधूत चुप हो गया। मुझे गीता के सम्बन्ध में बहुत-सी नयी बातें ज्ञात हुईं। मैंने ध्यान से सोचा और फिर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि गीता में भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग का अच्छा सम्मिश्रण दिखाया गया है। मैं यह पूछना चाहता था कि भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग में कौन श्रेष्ठ है; परन्तु पूछने के पहले यह विचार उत्पन्न हुआ कि भक्ति-मार्ग कहते किसे हैं। ज्ञान-मार्ग का तो थोड़ा बहुत ज्ञान था परन्तु भक्ति-मार्ग का कुछ भी ज्ञान न था। मैंने अवधूत से पूछा कि भक्ति-मार्ग क्या वस्तु है?

उसने उत्तर दिया, 'हे गुरुवर संक्षेप में भक्ति-मार्ग वह मार्ग है, जिसमें एक व्यक्ति अपनी सारी शक्तियों को, सारे व्यापार को अपने उपास्य पर केन्द्री-भूत करके तल्लीनता द्वारा आत्म-संयम करता है और अपनी आत्मा और प्रियतम की आत्मा के ओत-प्रोत से सारे

लोग ऊब कर प्रेम मार्ग छोड़ देते हैं परन्तु यह बात नहीं कि मानव-प्रेम में उच्चतम उदाहरणों का अभाव हो। सीता और राम का प्रेम, भरत और राम का प्रेम अर्जुन और कृष्ण का प्रेम तथा दशरथ और राम का प्रेम ये सब मानवीय-प्रेम ही के उदाहरण हैं। अभी हाल के उदाहरण में दक्षिण के महात्मा तिरुवल्लुवर और उनकी पत्नी का दृष्टान्त बहुत उच्च है।

अवधूत की ये बातें मुझे अच्छी लगीं। मेरे भी एक प्रियतम है। आज मैं भी उसके प्रेम में दीवाना हूँ। वह मुझे झिड़कता अवश्य है परन्तु प्रेम भी करता है। उससे सम्बन्ध विच्छेद करने को मैं भी पाप समझता हूँ। यद्यपि मेरा प्रियतम मुझे धोखा भी दे देता है, परन्तु मेरा प्रेम उस पर वैसा ही है। वह मेरा प्रियतम यही अवधूत है। यह मेरा शिष्य था। धीरे-धीरे इसके प्रति मुझमें ऐसी श्रद्धा-भक्ति और प्रेम बढ़ गया है कि मैं इसके बिना तनिक देर के लिये भी जीना कठिन समझता हूँ। प्रति दिन प्रेम बढ़ता ही जाता है। यह मेरा अवधूत भी जान गया है। सम्भाषण समाप्त होने पर मैंने अवधूत के हाथ पकड़कर अश्रुपूरित नेत्रों से कहा, 'भाई, अब मुझे छोड़कर न चले जाना।'

हम दोनों बातें करते-करते फिर एक पँचराहे की ओर आ गये। इस स्थान को मैं तुरन्त पहचान गया। मैंने अवधूत से कहा 'भाई, इस स्थान पर मैं कई बार आया हूँ और अपना मार्ग भूल गया हूँ। उसने उत्तर दिया कोई चिन्ता नहीं; भूल कर ही मनुष्य सीखता है। मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि एक बार आप और भूलेंगे परन्तु और अधिक नहीं भूल सकते। इसकी अब चिन्ता न कीजिये।

अवधूत की यह बात सुन कर नाना तर्क कुतर्क मन में उत्पन्न होने लगे। परन्तु अवधूत ने इधर-उधर की बातें करना आरम्भ कर दीं। मैं भी उन्हीं में लग गया। मुझे गाने की सूझी। अवधूत के प्रति प्रेम उमड़ता आ रहा था। मुझे वही-वही दीखने लगा। ऐसा प्रतीत होने लगा कि यही मेरा कल्याण कर सकता है। मैं सूरदास का यह पद बड़े स्वर से गाने लगा—

जापर दीनानाथ ढरे।

सोई कृपालु परम सुन्दर सोई, जापर कृपा करे।

राजा कौन बड़ो रावन सों गर्वहि गर्व हरे॥

रंकहु कौन सुदामा हू सो आप समान करे।

रूपमें कौन अधिक सीता सों जन्म वियोग भरे ॥
अधिक कुरूप कौन कुबजा सों श्री पति आपु बरे ।
जोगी कौन अधिक संकर सों जाकहँ काम छरे ॥
अधिक विरक्त कौन नारद सो, जम घर जात डरे ।
सूर श्याम भगवन्त भजन बिनु, पुनि-पुनि जठर जरे ॥

मैंने यह गीत बड़े राग से दो बार गाया। मेरे दीना नाथ तो यही अवधूत थे। गाने के आवेग में कुछ निसंज्ञता-सी आ गयी मैं निद्रित सा हो गया और अवधूत की जङ्घा में सिर रखकर सो गया।

निशीथनाथ की शीतल रश्मियों ने अपना स्थान परिवर्तित कर दिया था। प्रातःकाल के आगमन की घोषणा अरुणशिखा ने भी कई बार दी; मुझे भी सजग होने का सन्देश मिला। नेत्र उन्मीलन करता हुआ। मैं उठ बैठा। क्षपाकर कान्तिहीन था। वनपशु इतस्ततः शीघ्रता से लपककर निकल जाते थे। कतिपय झाड़ियों में प्रविष्ट होते दिखायी देते थे और कतिपय कन्दराओं में आश्रय ले रहे थे।

अधिक चेत आते ही मैंने अवधूत का अन्वेषण किया। परन्तु जहाँ तक दृष्टि पहुँच सकी मुझे कोई न दिखायी दिया। मैंने व्यर्थ में आह्वाहन करना उचित न

समझा। शान्ति से बैठ कर मैं रात्रि की घटनाओं पर ध्यान से विचार करने लगा। अपनी स्थिति नग्नरूप में दृष्टि के सामने दीखने लगी। इतने दिनों के पश्चात् मैंने फिर अपने को पँचराहे पर पाया। न जाने कहाँ-कहाँ भ्रमण किया, किन-किन अवस्थाओं में रहा। परन्तु, अब फिर जहाँ से चला था वहीं अपने को देख कर अत्यन्त विषादयुक्त हुआ। पुनः भ्रमण करना ही है, यह भी निश्चय ही था। कल से क्षुधा कुछ अधिक सता रही थी। मैंने सोचा कि किसी निकटस्थ ग्राम में जा कर भिक्षावृत्या अपनी क्षुधा तृप्त करूँ।

चारों ओर दृष्टि विक्षेप की। पाँचों मार्गों को देखा। अन्त में यही निश्चय किया कि जिस ओर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ दृष्टिगत होती हैं उसी ओर जाना उपयुक्त है। यह भी विचार आता जाता था कि धनी व्यक्ति इसी ओर रहते हैं, अतएव क्षुधा निवारणार्थ उनसे कुछ अवश्य मिल जायगा। यही विचार करता हुआ मैं उसी दिशा की ओर अग्रसर हुआ। एक बार तो मन कुछ अनायास रुक-सा गया। चित्त भी कुछ झिझका। मानो कोई अव्यक्त नाद में आदेश देने लगा कि इस ओर जाना उचित नहीं। और मानो यह भी कोई कह रहा

था कि भोजन की व्यवस्था वृक्ष के फलों द्वारा तत्क्षण की जा सकती है। न जाने क्यों ऐसा आभास होने लगा कि यदि मैं इस ओर गया तो सांसारिक प्रलोभनों में न कहीं फँस जाऊँ। परन्तु फिर स्मरण आया कि सन्तों के तजे हुये विषय से मूढ़ आकृष्ट होते हैं। हृदय में कुछ दाम्भिक आश्वासन हुआ। एक उँगली में अचानक कुछ पीड़ा-सी हुई। परन्तु किसी बात का ध्यान न करके मैं उसी रम्य नगरी की ओर चला।

थोड़ी दूर चल कर मैं एक गगन-चुम्बी प्रासाद के नीचे खड़ा हो गया। शीघ्र ही द्वार पर के सिपाही ने पूछा कि तुम क्या चाहते हो। मुझे भूख लगी थी अतएव मैंने निःसङ्कोच भाव से कह दिया कि मैं कुछ भोजन चाहता हूँ। भोजन का नाम सुनते ही उसने मुझे आड़े हाथों लिया। वह कहने लगा कि क्या यहाँ कोई सदावर्त खुला है। मुझे थोड़ा आश्चर्य-सा हुआ। परन्तु मैंने उत्तर दिया कि ऐसे धनी लोगों के यहाँ भी दान यदि न मिला तो अन्यत्र कहाँ मिलेगा। उसने तुरन्त वज्र-प्रहार से भी अधिक मर्माहत करने वाले वाक्यों में दो चार अपशब्द कहे और अन्त में यह भी कहा कि यदि तुम्हारे ऐसे दुष्टों को धन लुटाया जाता तो आज

हमारे लाला लक्षपति न होते। मुझे क्रोध आने ही वाला था किन्तु मैंने उसे रोक कर द्वारपालक से कहा, 'अरे भाई, भगवान धन देता है तो उसकी शोभा यही है कि दान दिया जाय, अन्यथा एक धनी और निर्धनी में क्या अन्तर है।" उसने उत्तर दिया कि हमारे लाला बड़े दानी हैं। अभी कल ही कलक्टर साहब के आमंत्रण उत्सव में उन्होंने १००००) रु० का दान दिया है। चार दिन हुए ५००) रु० व्यर्थ करके उन्होंने 'रहस' करवाया था। 'ललुआ' के विवाह में उन्होंने बनारस की चार बड़ी अच्छी नाचनेवाली बुलवाई थीं। क्या धन का यह व्यय नहीं है? हमारे लाला बड़े उदार हैं। ६०) रु० तक एक बार में थियेटर में व्यय कर देते हैं। यदि हर एक भुर्जी लोहार को इस प्रकार धन बिखेरा करें तो यह सम्पत्ति कहाँ से जुड़े।

ये शब्द इस 'भइये' ने इतने क्रोध से कहे थे कि मुझे अपने होठों के प्रयोग करने का साहस न हुआ। हाँ, यह अवश्य ध्यान आया कि धनी लोग कितने मूर्ख होते हैं। उन्हें विवेक से धन व्यय करना भी नहीं आता है। जिसे ये धन का सद्व्यय समझते हैं वह महान् अपव्यय है। जिसे ये दान समझते हैं, वास्तव में

वह अशुभ कार्य है । जिसे ये पुण्य-मार्ग का साधन समझते हैं वह इन्हें नरक की ओर अग्रसर करने वाला है।

एक बार अनायास यह ध्यान आया कि यदि कहीं मेरे पास धन सञ्चित हो जाय तो मैं इन मूर्खों को प्रदर्शित कर दूँ कि धन का व्यय किस प्रकार किया जाता है । तुरन्त ही मन में एक धीमा-सा स्वर सुनायी पड़ा कि यदि तुम्हें भी धन मिल जायगा तो तुम भी वैसा ही व्यवहार करने लगोगे । हृदय की इस उद्भावना के समक्ष पापी मन लज्जित हो गया । परास्तशास्त्रार्थ करने वाले के सदृश इसने भ्रमात्मक तर्क का आश्रय लिया । बुद्धि के तर्क कुतर्क के घोर रव में ।ये अद्धस्फुट भाव उदय और विलीन हो गये । एक जागृत व्यक्ति सद्य-अनुभूत स्वप्न जाल की एक कड़ी को, जो अनायास ही स्मरण-पट पर सकृत आभासित होकर सर्वदा के लिये अतीत में विलीन हो जाती है, पुनः पुनः विचारगम्य करने की चेष्टा करता है और वह बारम्बार विफल होता है । मैं भी उसी प्रकार उस भाव को बोध गम्य करने में विफल हुआ । 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' के पयोधि में प्रतिक्षण ऐसे सहस्रों बुदबुदे उठते हैं और विलीन हो जाते हैं । मुझे तो दृढ़ विश्वास था कि धन-ऐसा क्षुद्र आकर्षण

मुझे कभी आदर्श भ्रष्ट कर ही नहीं सकता। मैं विचार करने लगा कि इस 'भइये' के तर्क से मेरा धनी के प्रति कुत्सित विचार बना लेना अन्याय है। यह अपढ़, द्वार कपाटों की भाँति, जिनकी रक्षा करता है, जड़ और मूर्ख है। यदि यह दो अस्थि चर्म के स्तूपों पर अस्थिर है तो वे भी दो कबजों पर घूमते हैं। रक्षा-धर्म में तो वे इससे भी अधिक तत्पर हैं। श्रांत होकर यह कभी-कभी धराशायी भी हो जाता होगा परन्तु ये अपने कार्य में अत्यन्त व्युत्पन्नता के साथ चौबीसों घण्टे खड़े रहते हैं। अतएव इस मूर्ख की बातों पर विश्वास न करना चाहिये। इस महल के स्वामी से साक्षात् होने पर ही किसी प्रकार की धारणा निश्चय करना उपयुक्त है।

इसी विचार में मैं निमग्न था कि इतने में दक्षिण की ओर से एक घड़घड़ाती हुई मोटर दिखायी पड़ी। उसे देखते ही उस उद्दण्ड सेवक ने मुझको भाग जाने का आदेश दिया। मैं थोड़ा हटकर वहीं एक ओर खड़ा हो गया। मोटर आकर द्वार पर रुक गयी। थोड़ी देर में लगभग चार मन का एक मांस पिण्ड अपने फुफ्फुस की विशालता का परिचय देता हुआ काँख कूख कर मोटर से पृथ्वी पर उतरा। शरीर ४॥ फीट से अधिक ऊँचा

न था। और सम्भवतः इतना ही चौड़ा था। सारे शरीर का भार एक एक हाथ के दो स्तम्भों पर रखा था जाँघें परस्पर सङ्घर्षण करती थीं। कपाल-पिण्ड एक बड़े दलदार तरबूज की भाँति भारी था। वक्षःस्थल के उभय ओर आध-आध सेर के मांस के लोथड़े लटकते थे। हाथ शरीर की शालीनता की दृष्टि से कुछ छोटे थे। पाचन-भाण्डार की आकृति वर्षा द्वारा विलोपित एक दिशा की ओर लम्बायमान गुड़ के बोरे की भाँति थी। अग्र-भाग आवश्यकता से अधिक विस्तृत और लम्बायमान था। धोती किस स्थान से बँधी थी यह कहीं दीखता ही नहीं था। विग्रह व्युत्पन्नशीलता का परित्याग कर चुका था। शरीर पर एक महीन कुरता और उसके नीचे एक 'चीकट' बनयायिन थी। सिर पर एक अर्द्ध गुम्फित और अर्द्ध-विशृङ्खलित रक्तवर्ण की उष्णीश थी। लाला जी के उतरते ही उनके सेवकगण सजग हो गये। मुझे इस मनुष्य नामधारी माँस पिण्ड को देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। नेत्र बड़े-बड़े होने पर भी आकर्षण हीन और भयावह थे। धन होते हुए भी इस व्यक्ति की यह दशा है; यही मैं विचार करने लगा।

परन्तु मुझे यह जानना था कि वास्तव में द्वारपालक

ने जो कुछ कहा था उसमें कहाँ तक तथ्य है। इसके अन्वेषण के लिये मैं थोड़ा बहुत व्यग्र-सा था। लाला जी अपने एक मुनीम से एक कपड़े की गाँठ पर उपविष्ठ होकर कुछ बातचीत कर रहे थे कि इतने में अवकाश उपलब्ध करके मैंने झट से उनके सामने जाकर भिक्षा के लिए आवेदन किया। लाला जी ने सुनी अनसुनी कर दी। मैंने अपनी विपन्नावस्था का कारुणिक वर्णन पुनः कुछ वेग से किया। इस पर लाला जी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने एक निकटस्थ सेवक को आदेश दिया कि वह मुझे ठीक करे। यह मेरे दुर्भाग्य से वही द्वारपालक था। मुझसे तो यह रुष्ट था ही, झट उसने मुझे प्रतारित करना आरम्भ कर दिया। मैं शीघ्रता से द्रुतगामी हुआ। केवल एक बार मेरे सिर पर लकुट प्रहार हुआ। इस दण्ड-मुण्ड सम्मेलन को सेठ जी रक्त-नेत्र किये देखते रहे।

ऊर्ध्वनिश्वास लेते हुए मैं एक उत्तुङ्ग शिलाखण्ड पर आकर बैठ गया। मन में सोचने लगा की धनी समाज कितना क्रूर है। परन्तु पुनः हृदय ने यही चेताया कि एक धनी के अनुभव से सार्वभौमिक निष्कर्ष निकाल लेना तर्क-सङ्गत नहीं। अतएव अनुभव का क्षेत्र अधिक

विस्तृत करने की आवश्यकता है। मैं अभी क्षुधित था। भोजनों की कहीं सुलभ व्यवस्था प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होती थी। परन्तु मैं अधिक चिन्तित न था। विस्तृत-नगर की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं ने, सुन्दर-सुन्दर क्रय-विक्रय स्थानों ने और एक से एक रम्य विनोद-शालाओं ने चित्त को अपनी ओर हठात् आकृष्ट कर लिया। मैं उस स्थान में उठ खड़ा हुआ और एक उत्तुङ्ग निवास के नीचे जा रहा था कि किसी ने ऊपर से एक थाली मलिन जल उत्सर्ग कर दिया। मेरे सारे वस्त्र कीच में लथपथ हो गये। मार्ग के व्यक्ति मेरा उप-हास करने लगे। किसी ने भी यह न कहा कि मेरे साथ बड़ा अन्याय हुआ। हाँ, दूर से एक व्यक्ति के इतने शब्द अवश्य सुनायी पड़े कि इस मार्ग में प्रति दिन साधारण व्यक्तियों की यही छीछालेदर होती है। ये शब्द सुन कर चित्त में अपनी नपुंसकता पर कुछ ग्लानि सी हुई। बार-बार यही भावना उठती थी कि यदि धनी हुआ तो संसार को यह प्रदर्शित कर दूँगा कि धनिकों को कैसे रहना चाहिए और निर्धनियों के प्रति उनके क्या कर्तव्य होने चाहिए।

मैं यही सोच रहा था कि इतने में एक स्थूल-काय

व्यक्ति गृह से बाहर निकला। मेरे मन में यह विचार आया कि सम्भवतः यह मुझसे क्षमा-याचना करेगा। परन्तु वह तो आकर मेरी भर्त्सना करने लगा। मैं चुपचाप वहां से आगे बढ़ा। जीर्ण वस्त्रों में एक साधू दिखायी दिया। इसके पीछे कई कुत्ते बड़े वेग से भूँकते चले आ रहे थे। पीछे से बालकों का एक दल हू-हा करता हुआ और बेचारे साधू पर पाषाण-वृष्टि करता हुआ चला आ रहा था। मुझे देख कर ये कुत्ते मुझे भी भूँकने लगे। बालकों ने मुझे भी एक लक्ष्य बना लिया। हम दोनों विपत्ति के साथी हो गये। एक ओर बालकों की पाषाण-वर्षा और हूहाकार, दूसरी ओर कुत्तों का कर्कश नाद और हमारे वस्त्रों और शरीरों पर उनके दन्त-सन्दर्भ तथा दर्शकों की करतल-ध्वनि, हम लोगों की दशा को अत्यन्त दयनीय बनाये थी। हमारे पदों ने अपनी पूर्ण शक्ति और अपने पूर्ण वेग का परिचय दिया। हम लोग भाग कर बहुत दूर निकल आये। इन आततायियों से प्राण-रक्षा हुई।

शान्ति से हम लोग एक स्थान पर उपविष्ट हो गये। स्वस्थ होने पर परस्पर अभिवादन तथा विचार-विनिमय करने का अवकाश मिला। हम दोनों ने अनायास ही एक स्वर से पहले पहल यही कहा कि इस

नगर के व्यक्ति कैसे निर्दयी और क्रूर हैं। यदि हम लोगों में यूनानी देवता 'जोव' और 'मरकरी' की भाँति शक्ति होती तो हम भी इस नगर को जल-मग्न कर देते। यहाँ तो अतिथि-भक्त 'फिलीमन' और उनकी धर्म-पत्नी 'वासिस' की रक्षा करने की भी आवश्यकता नहीं है।

यह उफान किंचित् काल ही तक रहा। शीघ्र ही हम लोग दूसरी बातें करने लगे। थोड़े सम्भाषण के अनन्तर मैंने इस साधु को पहचान लिया। पुष्पवाण वाले नवयुवक की नगरी में प्रवेश होने के समय इसका और मेरा साक्षात् हुआ था। हम लोगों ने अपनी व्यथा का वर्णन किया। अन्यन्त प्रेम भाव से एक दूसरे के कण्ठ लगे। प्रथम तो अविरल अश्रुधारा का प्रवाह रहा। पुनः सँभल कर हम लोग अपनी-अपनी बीती सुनाने लगे। उसने अपनी झोली से कुछ भोजन निकाले। हम लोगों ने बड़े चाव से भोजन किया और निकटवर्ती जलाशय से तृषा निवृत की।

मध्याह्न हो चुका था। हम लोग एक घने पीपल के वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। शीघ्र ही हम लोग निद्रित हो गये। हम लोगों की निद्रा ५ बजे के लगभग खुली। हम यह सोचने लगे कि भोजनों के लिए कुछ प्रबन्ध

करना चाहिए । मेरे साथी ने कहा कि मेरी झोली में इस समय के भोजन का समान है। अतएव, अब देखा जायगा । उसने मुझे झोली से भोजन निकालने का आदेश दिया। झोली से मैंने भोजन निकालते समय देखा कि उसमें एक स्वर्ण मुद्रा है। इसकी ओर देखने की मुझे पुनः पुनः इच्छा होने लगी। साधु कुछ ताड़-सा गया। मुझे अपने ऊपर लज्जा आयी। साधु ने मेरे कहे बिना ही इस स्वर्णमुद्रा की चर्चा करनी आरम्भ कर दी। उसके कहने का अभिप्राय यह था कि एक धनिक की पत्नी ने हठात् उसकी झोली में यह मुद्रा डाल दी है।

हम लोगों ने भोजन किया। वह मुद्रा उसी प्रकार झोली में पड़ी रही। रात्रि को कई बार मुझे उसका ध्यान आया। एक बार तो मैंने हाथ डाल कर उसे टटोला तक; परन्तु निकालने का साहस न हुआ। बार-बार यह स्मरण आ जाता था कि स्वर्णमुद्रा पर तो मैं एक मास तक अपनी जीविका निर्वाह कर सकता हूँ। एक बार यह भी विचार आया कि इस साधु से इसे माँग ही क्यों न लिया जाय। परन्तु एक ओर तो यह विचार आता था कि वह मुझे लोभी कहेगा और दूसरी ओर

यह भी ध्यान आ जाता था कि कहीं इसने 'नहीं' कर दी तो बड़ी लज्जा की बात होगी ।

रात्रि इसी उधेड़बुन में बीती । प्रातःकाल ही उस साधु ने विदा होना चाहा । मैं उससे ठहरने के लिये आग्र करने लगा परन्तु उसने जाने का ही निश्चय कर लिया था। अतएव अपना मन्तव्य परिवर्तित न कर सका । मुझे उसके जाने की तो चिन्ता न थी परन्तु यह विचार अवश्य आ जाता था कि यह स्वर्ण-मुद्रा हाथ से निकल जा रही है ।

निदान साधू चला गया । थोड़ी दूर तक मैं उसे पहुं-चाने भी गया । एक बार मैंने उस मुद्रा के सम्बन्ध में चर्चा भी छेड़ी । परन्तु साधू का ध्यान उस ओर न देख कर मुझे चुप हो जाना पड़ा । मैं एक बार उसे माँगने ही वाला था परन्तु साहस ने साथ न दिया । जिह्वा क्रिया-शील हुई ; परन्तु नाद फुफ्फुस से वाक्-यन्त्र तक पहुँचते पहुँचते निष्क्रिय हो गया ।

साधु के प्रस्थान के पश्चात् शान्ति पूवक एक स्थान पर बैठ गया । थोड़ी देर बैठा-बैठा इधर-उधर की बातें सोचता रहा । पुनः पुनः उसी स्वर्ण-मुद्रा की स्मृति आ जाती थी । फिर यह विचार करने लगा कि यह मेरी कैसी

अनोखी मनोवृत्ति है कि इस छोटी-सी वस्तु का स्मरण ही नहीं भूलता। माना कि इस समय मेरी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि मैं अपने भोजन का यथेष्ट प्रबन्ध कर सकूँ, परन्तु दूसरे के धन पर इस प्रकार चित्त का चला जाना नितान्त पाप है। वास्तव में धन की ओर चित्त चलना ही न चाहिये। मैं तो एक प्रकार से धन के लोभ में फँस-सा गया हूँ। यह नितान्त अनुचित है। धन का लोभ नरक का द्वार खोल देता है। न जाने मेरी प्रवृत्ति इस ओर क्यों अग्रसर हो गई। सम्भवतः यह देख कर, कि इस संसार में धनिक ही राज्य करता है, चाहे अपने आप को कितना ही उच्च क्यों न समझूँ। परन्तु संसार में धनाभाव के कारण ही मुझे ठोकरें खानी पड़ती हैं। मैंने एक बार धन के त्याज्य होने के सम्बन्ध में विचार किया था और तर्क ने शास्त्रों के बल पर यह निश्चय किया था कि धन का लोभ अनुचित है। उस समय यह ध्यान में नहीं आया था कि व्यावहारिक जीवन में धन की कितनी आवश्यकता पड़ती है। वास्तव में मुझे तार्किक वाक्जाल निर्माण करके, अपने विवेक को उसमें निवास कराने के लिए सर्वदा के लिए उसमें उसे बन्द कर देने की बान सी पड़ गयी है। कई बार मैं स्वयं-निर्मित विचार जाल में स्वयं

अपने को बद्ध पाता हूँ। यहाँ भी इसी प्रकार का भ्रम-सा है।

मैं इसी प्रकार की उधे-ड़बुन में पड़ा था कि मेरे पास से दो नववयस्क विद्यार्थी निकले। ये लपके हुये चले जा रहे थे। इन द्रुतगामी पथिकों की बातों ने मेरा ध्यान भङ्ग कर दिया। इनके सम्भाषण से यह ज्ञात होता था कि ये अपने कालेज का कोई वादविवाद सुनने जा रहे हैं। ये दोनों उस वादविवाद के उभय पत्ती वक्ता हैं। एक का नाम सागर दूसरे का नाम रामरत्न था। जाते-जाते ये वाकयुद्ध करते जाते थे। शास्त्रार्थ देखने की मुझे अत्यन्त प्राचीन अभिरुचि थी। मैं भी इनके पीछे हो लिया। मुझे इस बात की अवश्य चिन्ता हुई कि मेरे वस्त्र मलिन हैं; परन्तु विवाद देखने के लोभ ने आत्मसम्मान की भावना को दबा दिया। इन बालकों के यत्रतत्र अर्द्धश्रुत वाक्यों से मुझे यह प्रतीत हुआ कि प्रस्ताव "ज्ञान और विद्या धन से श्रेष्ठहै" इस विषय का है। मुझे यह जानकर और भी प्रसन्नता हुई। मैंने सोचा कि धनाभाव से कितने कष्ट होते हैं, देखें ज्ञान पक्षीय वक्ता इस बात की किस प्रकार उपेक्षा कर सकते हैं। शीघ्र ही हम लोग विद्यालय हाल के निकट आये। विवाद आरम्भ हो चुका

था। ज्ञान पक्ष के वक्ता ही प्रस्तावक थे। ज्योंही मैं पहुँचा, करतल-ध्वनि हुई। ज्ञात हुआ कि प्रस्तावक महोदय ने अभी अपना सम्भाषण समाप्त किया है। एक द्वार की आड़ में खड़ा होकर मैं भी सुनने लगा। इस वाद-विवाद के सभापति एक वयोवृद्ध व्यक्ति बड़ी सी पगड़ा बाँधे थे। उनके आदेश से विपक्ष दल के प्रमुख वक्ता ने प्रस्ताव का विरोध करना आरम्भ किया।

"सभापति जी और सज्जनों! प्रस्तावक महोदय ने जिस पटुता के साथ अपने पक्ष का समर्थन किया है वह सराहनीय है। मेरे पास उनके ऐसे सुन्दर शब्द नहीं हैं और न उनकी ऐसी भावुकता ही परन्तु मैं उन भावों से प्रभावित नहीं हुआ। मेरे मित्र ने अपने वाक्जाल का प्रासाद बालू की नीव पर खड़ा किया है। उन्होंने न जाने पूर्व से ही यह क्यों मान लिया कि हम लोग ज्ञानोपार्जन को हेय समझते हैं और आध्यात्मिक उन्नति के प्रतिकूल हैं। क्या कोई बतला सकता है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये शरीर की आवश्यकता नहीं? यदि है तो जीवित रहने के लिये कौन सा ऐसा मनुष्य है जो धन की आवश्यकता न बतलावे? फिर यदि आध्यात्मिक उन्नति के लिए शरीर की इतनी आवश्यकता

है और शरीर के लिए धन की इतनी आवश्यकता है तो ज्ञान से धन हेय क्यों कर हुआ ? "Good Logic" (करतल-ध्वनि)। यदि धन का अधिक मोह हमें संसार के ऐहिक सुखों की ओर आकृष्ट करता है और उससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति अवरुद्ध होती है तो ज्ञान का भी बाहुल्य हमें मदोन्मत्त बना देता है और हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पड़ती है। विद्योपार्जन भी कभी-कभी एक प्रकार का व्यसन हो जाता है और हम उसमें इतने व्यस्त हो जाते हैं कि विद्योपार्जन को साधन न समझ कर साध्य समझने लगते हैं। हम विद्योपार्जन में इतना फँस जाते हैं कि हमें इस बौद्धिक व्यायाम में ही आनन्द आने लगता है। हम सत्य के अनुसन्धान से दूर होते जाते हैं। ज्ञान का अड़ङ्गा हमें भगवान के प्रति भक्ति नहीं करने देता। ज्ञान हमारी भावुकता को नष्ट करके हमें क्रूर तार्किक बना देता है। ज्ञान के अभाव से हम केवल मूर्ख समझे जा सकते हैं किन्तु धन के अभाव से तो हमारी मृत्यु हो जाती है। (करतल ध्वनि)

सज्जनों, जितने बड़े-बड़े साधू सन्त हुए हैं सब ने इस ज्ञानरूपी राक्षस की निन्दा की है। कवियों ने तो

इसकी भूरि भूरि निन्दा की है। यह भक्ति में अड़चन उपस्थित करता है। योग चित्तवृत्ति के निरोध से आता है। ज्ञान न जाने चित्तवृत्तियों को कितने वेग से सञ्चालित करता है। ज्ञानी अपने मन को इधर से उधर और उधर से इधर भ्रमण कराया करता है। अपनी व्याख्या की सिद्धि के लिए प्रस्तावक महोदय ने अपने 'ज्ञान' के प्रयोग का कैसा सुन्दर निदर्शन किया। ऐसे ज्ञानी से भगवान बचावे। यदि ज्ञान का यह अभिप्राय है कि भोले भाले व्यक्तियों को फाँस कर अपना उल्लू सीधा किया जाय तो हम ऐसे ज्ञान को सहस्रों वार नमस्कार करते हैं। (करतल ध्वनि)

ज्ञान मन का चंचल और द्रुतगामी कर देता है। यह हमें शेखचिल्ली के दुर्ग बनाना सिखाता है। हमारा शासन उससे हट जाता है और उसका विरोध करना कठिन ही नहीं असम्भव है। देखिए सूरदास जी क्या कहते हैं —

माधव जू, नेकु हटकौ गाइ।
निसिवासर यह भरमत इत उत,
अनत कहीं हटि जाय।
छुधित बहुत अघात नाहीं,

निगम द्रुम दल खाय।
अष्ट दस घटनीर अचवै,
तृषा तऊ न बुझाइ।
छहूँ रसहू धरति आगे,
बहै गन्ध सुहाइ।
और अहित अभच्छ भच्छति,
गिरा बरनि न जाइ।
व्योम, धर, नद, सैल, कानन, इते चरि न अघाहि।
ढीठ निठुर न डरति काहू, त्रिगुण ह्वै समुहाइ॥
हनै खल बल दनुज, मानव, सुरति सीस चढ़ाइ।
नील खुर तिमि अरुण लोचन, स्वेत सींग सुहाइ॥
दिन चतुर्दस रवल खूंदति, सु यह कहा समाइ।
नारदादि सुकादि मुनि जन थके करत उपाइ॥
ताहि कहु कैसे कृपानिधि, 'सूर' सकत चराइ।

और सुनिये एक अन्य सन्त कवि ने कहा है—

या करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करौ, तौ पावौ कछु सार॥

कवि सम्राट रवीन्द्र बाबू और अंग्रेजी कवि वर्ड्-सवर्थ किस प्रकार पुस्तकों से भागते थे यह बात किसी

से छिपी नहीं है। प्रकृति में किस विचार की कमी है जो पुस्तकों में उसे ढूढ़ा जाय। केवल हृदय चाहिए—

"Come and bring with you a heart that watches and receives."

तभी तो "Books in running books, sermon in stones and good in every thing" दीखने लगता है। सज्जनों, पुस्तकों को बन्द कर दो। let nature be your teacher.

यह 'ज्ञान' हमें कभी समावस्था तक पहुँचने नहीं देता। हम 'स्थितधी' नहीं हो पाते।

जाने दीजिए ये बातें। अब देखिए कि धन से कितने लाभ हैं। धन से आप की स्थिति ऐसी हो जाती है कि आप दान कर सकते हैं। आप सात्विक दानी हो सकते हैं। संसार में सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। मोटर पर घूम सकते हैं। फर्स्ट क्लास थियेटर में जा सकते हैं। स्वराज्य-कोष में सब से अच्छा चन्दा दे सकते हैं। धन की महिमा जितनी गायी जाय उतनी थोड़ी है। सुनिये एक संस्कृत कवि क्या कहते हैं—

"धनैनि ष्कुलीना कुलीना भवन्ति,
धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति।
धनेभ्यः परो बान्धवो नाऽस्ति लोके,
धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वं।"

और इधर भगवान के फेर में पड़ कर ज्ञान में पड़ना और फिर स्वयं ज्ञान की भूल भुलैया में पड़ जाना और जीवन व्यर्थ खो देना कहाँ की समझदारी है। आज तक किस ने उस भगवान को जाना है? भगवान तो इसी संसार के सौंदर्य में छिपा है। देखने वाला चाहिए। किसी फारसी कवि ने कहा है।

दामाने निगह तंगो गुले हुस्ने तो बिसियार।
गुँलचीने तो अज़ तंगिये दामां गिला दारद॥

आप लोगों के अवगत करने के लिए मैं इस पद्य का छन्द-बद्ध हिन्दी अनुवाद कहता हूँ।

लाख लाख हरि छबि सुमन
फूल रहे हर डारि।
युग-अंचल सखि साँकरो,
जात न अधिक पसारि॥

अतएव संसार में 'भज कलदारम्' 'भज कलदारम्' का ही मन्त्र मुख्य है। नहीं तो कोई टके को भी न

पूछता। धनियों का ही आदर है। उन्हीं की सब चलती है। धारा-सभाओं में म्युनिसिपैलटियों में, जिला बोर्डों में, कालेजों और स्कूलों की कमेटियों में यही धनी लोग राज्य करते हैं। सैकड़ों ज्ञानी भोजनों के लिए घर-घर भिक्षा माँगते फिरते हैं।" (करतल ध्वनि) इतनी बात कहते ही उस वक्ता ने मेरी ओर उँगली से इशारा किया। कुछ लोग वेग से मेरे पास आये। मैं घबरा गया और तुरन्त वहाँ से पलायमान हुआ। चलते चलते मैंने यह सुना कि ज्ञानी धनी लोगों की जूती साफ करते हैं।

मैं विद्यालय की सीमा के बाहर आया। इतने में एक करतल-ध्वनि और सुनाई दी। मैंने अनुमान किया कि वक्ता का सम्भाषण समाप्त हो गया है। मुझे फिर भीतर जाने का साहस न हुआ। बार-बार इस मृदुल-स्वभाव बालक की वक्तृता पर मनोमुग्धकारी आनन्द आ रहा था। मैं यह समझता था कि इसकी अधिकांश युक्तियों में कोई सार न था परन्तु उसकी सारी वक्तृता के प्रभाव को मैं भुला न सकता था। मेरे हृदय में बार-बार यह विचार आ जाता था कि धन वास्तव में बड़ी उपयोगी वस्तु है। धनाभाव के ही कारण मेरी दशा ऐसी दयनीय

हो रही है कि कालेज के छोकड़े मेरे ज्ञान का उपहास करते हैं। अब वास्तव में ऐसा ही उपाय करना चाहिये जिससे धनोपार्जन हो।

मेरी यह धारणा अभी अपरिपक्व थी। मन ने वास्तव में उपयोगिता-वाद की नालिश पर विवेक के सहसा अवाक रह जाने पर उसके प्रतिकूल डिगरी दे दी। विवेक अपील करना चाहता था किन्तु वादी के आतङ्क ने उसका साहस भङ्ग कर दिया। निर्णय स्थिर और स्वीकार रहा। शास्त्रों के प्रति श्रद्धा वृद्धा हो जाने के कारण साक्षी देने के लिये खड़ी न हो सकती थी। धर्म-लकुट भी उसके हाथों से गिर गया था। मैं धनोपार्जन के उपाय ढूढ़ने लगा। यह भी ध्यान आया कि वह शास्त्र शास्त्र नहीं है और न वह जीवित रह सकता है, जो समयानुकूल व्यवस्था न दे सके। भारतीय शास्त्रकार इस सम्बन्ध में बड़े पटु हैं। उन्होंने अपने शास्त्रों की उक्तियों की पंक्तियाँ और भाव के भाव केवल लोकधर्म की रक्षा के लिए परिवर्तित कर दिये हैं। मुसलमान आततायियों के भय से हमारे शास्त्रकारों ने "अष्ट वर्षा भवेद् गौरी" इत्यादि वाक् द्वारा ८ वर्ष में ही बालिकाओं के विवाह करने की व्यवस्था कर दी।

यही, नहीं स्वयं वाल्मीकि रामायण के श्लोकों में परिवर्तन कर यह स्पष्ट दिखला दिया कि महारानी सीता जी का भी विवाह ६ वर्ष की आयु में हुआ था जिससे अन्य लोगों को प्रोत्साहन मिले और वे अपनी कन्याओं का शीघ्र विवाह करके मुसलमानों से उनकी रक्षा करें। उदाहरणार्थ सीता जी के विवाह-संवत के सम्बन्ध की पङ्क्तियाँ स्मरण आती हैं। सीता जी कहती हैं—

"ममभर्ता महातेजा वयसा सप्तविंशत,
अष्टादशहि वर्षाणि मम जन्मन्निगद्वते।

अर्थात् वनवास के समय ग्रामवधू से वे अपनी आयु १८ वर्ष और श्रीरामचन्द्र जी की आयु २७ वर्ष की बतलाती हैं। अन्यत्र यह भी कहा है कि विवाह के पश्चात् मैं १२ वर्ष तक इक्ष्वाकुओं (सूर्यवंशी राजा दशरथ) के यहाँ रह कर जङ्गल के लिये निर्वासित की गयी हूँ। "ऊषित्वा द्वादश वर्षाणि इक्ष्वाकूनां निवेशने"। इसके अनुसार तो सीता जी की आयु विवाह के समय केवल ६ वर्ष की रह जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्रों में बहुत कुछ पीछे से मिलाया गया है। अतएव उनके सम्बन्ध में अधिक विचार-युक्त तर्क से काम लेना चाहिये। प्रत्येक वाक्य अथवा प्रत्येक पङ्क्ति

को ध्रुव सत्य न मान लेना चाहिए। अस्तु। धनोपार्जन के सम्बन्ध में भी अधिक विचारने की आवश्यकता नहीं। यदि संसार में हमें रहना है तो उसका एकत्रित करना हमारा महान कर्त्तव्य है।

यही सोचता विचारता मैं एक जलाशय के निकट आया। विचार-जगत् का पिष्टपेषण समाप्त हुआ। धनो-पार्जन करना है, यह निश्चय हो गया। अब उसकी व्यवस्था शेष थी। मैंने सोचा कि मैं बहुत भूल गया। यदि कहीं उस साधु से कुछ धन ऐंठ लिया होता तो आज उससे कोई छोटा-मोटा व्यापार करके मुट्ठी में कुछ रुपये करता। अनायास यह स्मरण आया कि उस साधु ने फूलपुर में चतुरीसाह की धर्मशाला में चार दिन रहने को कहा था। फूलपुर यहाँ से केवल २० कोस है। आज उसे गये दूसरा दिन है। यदि मैं चेष्टा करूँ तो वह मिल सकता है।

यही विचार कर मैंने तुरन्त फूलपुर का मार्ग ग्रहण किया। इतने वेग के साथ मेरे पैर उठते थे कि मानो उनमें दैवी स्फूर्ति का सन्निवेश हो गया है। मैं चलता थोड़ा पर दौड़ता अधिक था। ऐसा प्रतीत होता था कि फूलपुर अत्यन्त निकट है और मैं अभी पहुँचने वाला हूँ।

मार्ग में बहुत से लोग मिले परन्तु मुझसा उतावला कोई न था। मार्ग के किसी भी प्रलोभन ने मुझे आकर्षित न किया। भ्रमण करते हुए बकरे मिले, रोमन्थमान गो-समूह मिला, उड़ते हुए विहङ्गम मिले, फुदकते हुए वानर मिले और हँसते हुए बालक मिले, परन्तु किसी ने मुझे आकृष्ट न किया। लगभग ७-८ घण्टे में मैं फूलपुर पहुँच गया और ढूँढ़ ढाढ़ कर धर्मशाला में प्रविष्ट हुआ।

मित्र को देख कर मैंने अभिवादन किया। एक दूसरे के निकट बैठ कर हम दोनों फिर बातें करने लगे। मुझे श्रान्त देख कर उस ने बड़े दयाभाव से इसका कारण पूछा। मैंने बतलाने में कुछ आनाकानी की। उसके निकट उसकी झोली न देख कर मैं अत्यन्त घबड़ाया। मुझे यह भय हो गया कि सम्भवतः मेरा प्रयास व्यर्थ हुआ। मैंने सब बातों को दबा कर सबसे प्रथम यही प्रश्न किया कि आपकी झोली कहाँ है। उसने उत्तर दिया कि उसे तो कोई चुरा ले गया। मैं निस्तब्ध हो गया। थोड़ी देर के बाद मैंने कहा कि आपकी तो बड़ी भारी हानि हुई थी। उसने सिर हिलाते हुए कहा, कि हाँ, अधिक हानि हो जाती यदि मैं स्वर्णमुद्रा को उस

दिन शीघ्र बोध की डिब्बी में न रख लेता।

यह सुन कर चित्त में कुछ स्थिरता आयी। निराशा की भावना कुछ मन्दप्राय सो हो गयी। आशा का प्रकाश दृष्टिगत हुआ। परन्तु अब समस्या यह थी कि वह आत्मसात् कैसे की जाय। शीघ्रबोध की डिब्बी कैसे दृष्टि में आवे। मैंने सोचा कि चिलम पीने का बहाना निकालना चाहिए। इतने में एक दूसरा चिमटा-धारी 'अलख जगाता' हुआ आ गया। यह भी हम लोगों के साथ बैठ गया। मैंने अपने मित्र से शीघ्रबोध की डिबिया की याचना की। उसने झट निकाल कर मुझे दे दी। मैंने उसका शोघ्र-वोध तो नवागत चिमटा-धारी को दे दिया परन्तु डिब्बी धीरे से अपने वस्त्रों में तिरोहित कर ली और लघुशङ्का-निवारणार्थ बाहर आ कर नौ दो ग्यारह हुआ। इस बार का वेग पूर्व के वेग से कहीं द्रुततर था। मैंने लगभग तीन कोस तक भाग कर साँस ली। न जाने मुझे मेरे पैर कहाँ ले आये थे। मैंने अपने आपको एक वृहद् भवन के नीचे खड़ा पाया। कुछ लोग और खड़े थे। न जाने किसके धोखे से वे मुझे बुला कर ऊपर ले गये। मैंने जीने में ही कौड़ियों के खड़कने का शब्द सुना। मैंने समझा शायद चौपड़ का खेल हो।

ऊपर जाकर क्या देखता हूँ कि वहाँ पहिले से लोग खेल रहे हैं। उनके सामने रुपयों की राशि लगी थी। मुझसे भी उन लोगों ने खेलने के लिए कहा। मुझे यह खेल न आता था। एक ने मुझे समझा कर मेरे सम्मिलन में खेलना आरम्भ कर दिया। शीघ्र ही हम दोनों ने सब का धन जीत लिया। मैं खेल भी अच्छी तरह सीख गया। अन्त में हम दोनों का परस्पर खेल होने लगा। मैंने इसका भी सब धन जीत लिया। इधर-उधर कुछ धन याचकों को वितरित कर लगभग ६००० रु० लेकर मैं नीचे उतरा।

प्रातःकाल हो गया था। मुझे वह भय था कि कहीं कोई मुझसे रुपया न छीन ले। द्यूत-क्रीड़ा को शास्त्रों में हेय कहा है परन्तु मुझे इससे कितना लाभ हुआ। यह भी शास्त्रों के खोखलेपन का अच्छा उदाहरण है। मैं धन लेकर एक द्रुतगामी यान पर बैठ गया। उसने मुझे एक विशाल चौराहे पर खड़ा किया। मैं झट एक दुकान पर गया और अपने पहनने के लिए वस्त्र लिये। निकट ही एक सुन्दर सा भवन २००) रु० मासिक पर किराये का लिया। भवन के सुसज्जित करने की चेष्टा होने लगी। अपने पहनने के लिए सुन्दर से सुन्दर वस्त्र लिये।

दो-तीन मास अत्यन्त आनन्द से कटते रहे। बहुत से मित्र हो गये। प्रीति-भोजों की व्ययस्था की जाने लगी। रात-दिन हारमोनियम और तबला ठनकने लगा। परि-णाम यह हुआ कि मने आधे से अधिक धन तीन मास में ही व्यय कर दिया। अपनी योग्यतानुसार निर्धनों की भी सहायता की। चिकित्सालय, विद्यालय, वाचनालय इत्यादि सभी संस्थाओं में दान दिया। धन-संम्बर्धन की चिन्ता हुयी। मुझे कुछ व्यापारी मित्र बहुत मानते थे। उन्होंने रुई की 'बदनी' में कुछ मेरी भी पत्ती कर दी। इस प्रकार दो सहस्त्र रुपया प्राप्त हुआ। परन्तु मैं ने सोचा कि यह धन अपर्याप्त है। दो बार और दो-दो सहस्त्र की आय हुयी। अब विचार हुआ कि मैं स्वतन्त्र सट्टा किया करूँगा। अन्त में थोड़ा सा कार्य्य आरम्भ किया। एक निज दुकान खोली। ४ सौ रुपया मासिक का निवास-स्थान लि-या। सट्टे का कार्य्य आरम्भ किया। थोड़े ही दिनों में मेरी पूंजी एक लाख से बढ़कर १० लाख तक हो गयी। कितनी शीघ्रता से इतना धन बढ़ गया, इस का ज्ञान मुझे नहीं। दो वर्ष के अनन्तर मेरे पास दो करोड़ की सम्पत्ति हो गयी। इस समय मेरे पास ५१ मोटरें और २०० से अधिक घोड़े गाड़ियाँ हो गयीं। भारतवर्ष की प्रत्येक व्या-

पारिक मण्डी में मेरी दुकानें खुल गयीं। गत वर्ष की अपेक्षा मोटरों की संख्या-वृद्धि का विचार आया। २० मीलों की दौड़धूप ऐसे नहीं होती। २११ मनुष्य गत वर्ष मेरी मोटरों से आहत हो चुके थे। परन्तु इनकी ओर कहाँ ध्यान दिया जा सकता था। २१ मनुष्य तो एक ही मिल में इञ्जन के विस्फोट से समाप्त हो गये। परन्तु इन दुर्घटनाओं की गणना कहाँ तक की जाव।

अब मेरे पास छोटे मोटे चन्दा माँगने लोग नहीं आते। K. C. S. I. हो जाने के पश्चात् चन्दा बहुत सोच विचार कर देता हूँ। किसी ऐसी संस्था में चन्दा पहुँच जाने से, जो सरकार के प्रतिकूल आन्दोलन करने का साहस करे, सर्वथा हानि हो जाने की आशंका है। अतएव मैंने यह नियम कर लिया कि जिन संस्थाओं का सञ्चालन कलेक्टर अथवा कमिश्नर के हाथ में है उनके अतिरिक्त और किसी संस्था के हाथों में चन्दा न दूँगा। वास्तव में सरकारी कर्मचारियों के भोज के ही चन्दे इतने अधिक होते थे कि अन्यत्र चन्दा देना कठिन हो जाता है। मैंने फुटकर दान सब बन्द करवा दिये। साधु लोग बड़े नीच और धूर्त होते हैं। उनके वेश की झड़प में आकर धन देना अपव्यय है। जब से गवरनंर

साहब ने मुझे धारा सभा की सदस्यता प्रदान की तब से व्यय और भी बढ़ गया है।

सारे भारतवर्ष में भ्रमण करना पड़ता है। एक वार एक बर्फ-मील से अनबन हो जाने के कारण मैंने तुरन्त एक नया मील खोल कर उस मील के स्वामी को दरिद्र कर दिया। किसी को मुझसे न्यायालयों द्वारा विजय पाना अत्यन्त दुष्कर था। कोष का मुंह खोलने से योग्य से योग्य बैरिस्टर और वकील मेरे पक्ष की पैरवी के लिए प्रस्तुत हो जाते थे। हाईकोर्ट तक में धन द्वारा मैं अपना काम कर लिया करता था।

व्यायाम करने का अवकाश न मिलने के कारण और अत्यन्त गरिष्ट भोजन करने से मुझे श्वास का रोग हो गया। इससे मुझे बड़ा कष्ट होने लगा। डाक्टरों की ओषधि और पहाड़ों के जलवायु ने भी कुछ परिवर्तन न किया। मुझे डाक्टरों ने यूरोप जाने का आदेश दिया। शरीर अनावश्यक रूप से बढ़ गया था। मैंने यूरोप जाने का आयोजन किया। स्विटज़रलैण्ड में मेरे लिए एक सुन्दर भवन रिक्त कराया गया। मैं थोड़े दिनों तक वहाँ रहा। परन्तु कुछ लाभ न होने के कारण पेरिस चला गया। वहाँ कुछ लाभ हुआ। मैंने वहाँ कुछ व्यपार

करना भी आरम्भ किया और उसमें कुछ लाभ भी हुआ। फ्रांस में मुझे भ्रमण करने का भी चसका लग गया था। परन्तु महिला समाज से मैं दूर भागता था। धन को मैंने पानी की भाँति व्यय किया। व्यापार और बढ़ाया तो कुछ घाटा हुआ। पेरिस में मर्यादा स्थापित रखने के लिए त्रिगुणित धन लगा कर व्यापार किया। यह भी चला गया। फिर अधिक धन लगाया। इसकी भी हानि हुई। कई बार व्यापार में क्षति पहुँचने पर मेरे सब मिलों पर भारतवर्ष में दूसरों का आधिपत्य हो गया। धन का जो मैंने हिसाब लगाया तो ज्ञात हुआ कि सब लें देकर दो लाख बचता है। मैं अत्यन्त खिन्न हो गया। ऐसा अनुभव करने लगा कि भारत न जाकर पेरिस में ही रहूँ। परन्तु धन की सुचारु व्यवस्था भारतवर्ष में करनी थी अतएव 'बाम्बे' लौट आया। यहाँ अपनी जन्मभूमि में एक निराला परिवर्तन पाया। जितने व्यक्ति मुझे पहुँचाने आये थे उनके शतांश भी स्टेशन पर मुझे स्वागत करने नहीं आये। परन्तु इसकी मुझे चिन्ता न हुई। मैं वास्तव में इस दीनावस्था में किसी से मिलना भी नहीं चाहता था।

सब लोगों का धन देकर १ लक्ष ८० सहस्र का

धन मैंने इम्पीरियल बैङ्क में जमा करा दिया और एक भवन कालबा देवी रोड में लेकर शान्तिपूर्वक और एकान्त में जीवन व्यतीत करने लगा। विनोद के लिए कुछ प्राचीन मित्र आ जाया करते थे।

लगभग दो वर्षों के पश्चात् मेरे एक प्राचीन मित्र ने मुझे कुछ व्यापार करने का परामर्श दिया। मैं व्यापार से नितान्त पराङ्मुख था। परन्तु दो व्यापारियों को देखते देखते ही बड़ा लाभ हो गया। मेरा भी चित्त चल गया। मैंने भी कुछ व्यापार किया। लगभग २० सहस्र मिले। इसके पश्चात् पुनः दो बार सट्टा किया। इसमें लगभग एक लाख की क्षति हुई। जिस प्रकार सन्निपात ग्रस्त व्यक्ति को मृत्यु के पूर्व न जाने कितनी शक्ति आ जाती है और वह बड़े वेग से उसका प्रयोग करके शीघ्र ही सर्वदा के लिये निष्क्रिय हो जाता है उसी प्रकार मैंने भी घाटा होने पर अधिक से अधिक धन से और सट्टा आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि मुझे कुल मिला कर दो लाख का देना हो गया।

जिस दिन मुझे यह दुःखद समाचार मिला मैं शोक से आक्रान्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और कातर स्वर से रोने लगा। कुल बैङ्कों का सारा धन नाश हो गया।

ऊपर से कुछ धन और देना शेष रहा। अब यह चिन्ता थी कि कल प्रातःकाल भुगतान वाले दुकान घेरेंगे। मैं क्या करूँगा। उन्हें किस प्रकार सान्त्वना दूँगा। मुझे इस बात का तनिक भी ध्यान न था कि मैं भविष्य में क्या करूँगा। परन्तु 'तगादा' करने वालों के अपमान का बड़ा भय था। मैं उठ कर ऊपर के कमरे में चला गया। वहाँ जाकर पुनः वेग से रोने लगा। रोने के सिवा कुछ न सूझता था। मैंने सेवकों को अपने पास आने से मना कर दिया था। जब शोक-बाहुल्य से छूट कर चिन्तना-शक्ति को कार्य्यशील होने का अवकाश मिलता तो बारम्बार यही विचार आता था कि प्रातःकाल मेरी क्या दशा होगी और तब चिन्तना का शोक पुनः आक्रान्त कर लेता था।

अर्द्ध रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। विपदा का कोई अन्त न देख पड़ता था। मैंने अन्त में यह निश्चय किया कि विष द्वारा आत्महत्या कर लूँ। परन्तु विष निकट कहाँ था? इतनी रात्रि को विष कहाँ मिल सकता था। प्रातःकाल तो सारा अपमान हो ही जायगा। शीघ्र ही मैं छज्जे पर आया और विचार करने लगा कि मार्ग पर सर के बल गिर पड़ूँ? तो अवश्य ही मृत्यु हो

जायगी। तीन बार मैंने चेष्टा की परन्तु तीनों बार मुझे किसी ने पीछे से आकृष्ट कर लिया। मैं विचार करने लगा कि यदि गिरने पर भी मृत्यु न हुई तो और भी उपहास होगा। अङ्ग-भङ्ग भी हो जायगा। न जाने यह कायरता का व्यक्त प्रलाप था, न जाने यह वास्तविक विचार। अन्त में यही निश्चय हुआ कि यह कार्य ठीक नहीं।

पर्यङ्कासीन होने पर पुनः शान्ति न मिली। बार-बार यही विचार आता था कि किसी प्रकार प्रातः काल न आवे। किसी प्रकार रात्रि में ही मेरा अन्त हो जाय। मुझे एकाएक यह स्मरण आ गया कि मेरी अँगूठी का नग हीरा है। अतएव इसी का प्रयोग करना चाहिये। मरने के लिए मैं प्रस्तुत हो गया। भगवान का नाम लेने लगा, यह विचार कर कि मरने के पूर्व भगवान का भजन कर लेना चाहिए, मैं बैठकर ध्यान करने लगा। ध्यान में अनायास मुझे मेरे अवधूत शिष्य का चित्र चित्रित हो जाया करता था। मैंने चित्त से उसकी वन्दना की और एक क्षण के लिए उसके ध्यान में मग्न हो गया।

समाधिभङ्ग होने पर मैंने समय देखा। तीन बजे थे। अब मैंने हीरा-चुम्बन करने का प्रयास किया।

किसी ने द्वार खटखटाया । मैं रुक गया । अन्त में यह निश्चय किया कि द्वार का निष्कपाट करना उपयुक्त नहीं, पहले अपना अन्त कर देना चाहिए । परन्तु द्वार पुनः वेग से खटखटाया गया । मैं इसकी उपेक्षा न कर सका । झट अँगूठी हाथ में पहनी और किवाड़ खोल दिये । मेरा अवधूत शिष्य एक दूसरे व्यक्ति के साथ भीतर आया । उसे देखकर झट मैंने उसे प्रणाम किया । परन्तु मुझसे पूर्व ही उसने मुझे प्रणाम किया था । मुझे बारम्बार इस अवधूत ने सहायता की है । इस बार मैं इससे सहायता न माँगूगा । यह सोचकर मैंने अपनी स्थिति का परिचय देना इसे उपयुक्त न समझा । हम सब बैठ गये । उसने मुझे फिर प्रणाम किया था । अवधूत बिना कुछ कहे ही कहने लगा, "गुरुवर मैंने सब समाचार सुन लिया है । आपका सारा देना मेरे मित्र चुका देंगे और व्यापार के लिए जितना धन आप चाहें उतना भी मिल सकेगा ।" मुझे कुछ प्रसन्नता हुयी । परन्तु अवधूत ने आगे फिर कहा—"परन्तु आप क्या इस पङ्क में निमज्जित रहना चाहते है ?" मुझे साहस न हुआ कि मैं ना कह दूँ । मेरे मुख से अनायास निकल गया कि मुझे इस दुख से आप एक बार बचा लीजिए । मैं और कुछ नहीं चाहता । इस पर अवधूत

ने कहा—"आप मेरे साथ चलिए'। मैं चलने ही वाला था; परन्तु फिर यह विचार आया. कि धन का भुगतान मेरे सामने ही हो तो अच्छा है। इसको सब ने स्वीकार कर लिया। प्रातःकाल हुआ। 'तगादागीरों' की भीड़ थी। मेरे मुख पर कुछ प्रसन्नता की झलक थी। उनको चेक काट कर दिये जाने लगे। मध्याह्न तक सब का भुगतान हो गया।

अवधूत का मित्र उससे आज्ञा लेकर चला गया। अवधूत ने मुझ से शीघ्र से शीघ्र उस स्थान को छोड़ने का आग्रह किया। जो कुछ शेष धन था उसे चिकित्सा-लय को दान कर मैं सादे वस्त्र पहन कर निकल खड़ा हुआ। हम दोनों घूमते-घूमते एक रम्य वनस्थली में जा निकले। यहाँ से पाँच मार्ग विभिन्न दिशाओं को गये थे। ध्यान से देखने से ज्ञात हुआ कि मैंने इसी स्थान से भ्रमण आरम्भ किया करता था।

थोड़ी देर तक हम दोनों एक शिला पर अवाक् बैठे रहे। फिर मैंने अवधूत से पूछा कि मुझे इस बार इतने कष्ट क्यों उठाने पड़े। उसने मुस्करा कर कहा—"भगवान, इस में आप ही का दोष है। विषयों में पड़कर उनके विषधर प्रभाव का उलाहना देना कहाँ तक न्याय-सङ्गत है। तामिल

प्रभु का कहना है कि 'दुनिया में दो चीजें हैं, जो एक दूसरे से बिलकुल नहीं मिलती। धन-सम्पत्ति एक चीज है और साधुता तथा पवित्रता बिलकुल दूसरी चीज़ है, प्रभु ईसूमसीह ने कहा है—"सुई के नकुए से ऊँट का निकल जाना तो सरल है पर धनी का स्वर्ग-प्रवेश असम्भव है।" अपने तो इन बातों का अनुशीलन किया था परन्तु फिर भी इनकी उपेक्षा की। विषयों के उपभोग की क्षमता रखता हुआ उनसे दूर रहें तभी सच्चा नियंत्रण है।

भोग भोग कर शान्ति-लाभ करने की बात नितान्त विडम्बना पूर्ण है। एक तो "हविषाकृष्ण वर्त्मेव भूय एवभिवर्द्धते" इस कल्पनानुसार तृष्णा बढ़ती जाती है। दूसरे, थके वृद्ध अश्व को निकालने से लाभ ही क्या? जब इन्द्रियों में बल है और शरीर में स्फूर्ति है तभी उन्हें संयम से कस कर सन्मार्ग में लाने की आवश्यकता है। यहाँ इन्द्रियों को संयम और अनुशासन द्वारा अधिक जागरूक बनाने के लिए ही आदेश है। उन्हें सुखा कर मार डालने का नहीं।

आपकी कार्यशीलता निन्द्य नहीं, परन्तु प्रणाली निन्द्य है। आपने धनोपार्जन की तो व्यवस्था की; परन्तु समुचित

धनोपयोग न किया। उसे अपने ऐहिक सुख के लिये लगाया। उद्देश्य क्या रखा था और कार्य कैसे किये, यही दुख का कारण है।

मैं इस शिक्षा को नतमस्तक हो कर श्रवण करता रहा। अन्त में मैंने यही कहा कि महाराज मुझे तो कई बार इसी प्रकार मार्गस्खलन हो चुका है। अपनी सब भूलों को समझ जाया करता हूँ। परन्तु फिर-फिर भूलें करता हूँ। इसकी क्या औषधि है? इस पर उसने उत्तर दिया कि अभी तक आपको वास्तव में दीक्षा नहीं मिली। दीक्षाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक सांसारिक दीक्षा (Horizental Conversion) और दूसरी आध्यात्मिक दीक्षा (Vertical Conversion)। अतएव आपको बार बार सांसारिक दीक्षा तो दी गई परन्तु आध्यात्मिक दीक्षा अभी नहीं मिली। आपको वास्तव में ऐसा कोई गुरु नहीं मिला जिसके गुरुत्व में आपको विश्वास हो। अन्यथा आपका उद्धार हो गया होता। उन्नति का क्रम वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो निम्नलिखित क्रम के अनुकूल है—

(१) देवजीवन।

(२) मानव जीवन।

(३) पशुपक्षी जीवन ।

(४) न्यग्रोध जीवन ।

(५) निर्जीव सृष्टि ।

इस चित्र के भी अनुकूल यदि 'पङ्क' जिसकी गणना अन्तिम कोटि में है, चतुर्थ कोटि में पहुँचना चाहे तो उसे भी 'पङ्कज' से प्रार्थना करनी पड़ेगी । यही नहीं जब तक कमल पङ्क में गड़ कर गुरु की भाँति उसका उद्धार नहीं करेगा तब तक पङ्क कमल में परिवर्तित नहीं हो सकता । बस, सब प्रकार की उन्नति का यही क्रम है । उत्तम गुरु के बिना आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं ।

मैंने ये बातें भी ध्यान से सुनीं । नेत्रों में जल भर आया । अपने ऊपर ग्लानि आयी । सहसा विचार अङ्कुरित हुआ कि मैंने इस अवधूत को इसके वास्तविक रूप में नहीं समझा । तुरन्त वेग से चरण पकड़ लिये । उसने इस बार अपने चरण नहीं हटाये । मैं मनमानी भावुकता से उन्हें दबाता रहा । उसी के चरणों में सिर रखकर मैं सो गया । न जाने कितनी देर तक सोता रहा । नेत्र खुलने पर फिर अपने 'गुरु' को उसी स्थान पर बैठा पाया । उनकी ओर देखकर फिर एका-एक अश्रु-धारा प्रवाहित हो निकली । पृथ्वी पर सिर रखकर लेट गया । मैंने अनुभव

किया कि मेरे गुरुदेव ने अपने कोमल करों को कई बार मेरे ऊपर फेरा। फिर मैं निद्रित हो गया। जब मैं जागा तब भी उनका हाथ मेरे ऊपर था। उन्होंने मेरी ओर पुत्र-भाव से दृष्टि विक्षेप किया। उनके नेत्र मेरे हृदय में गड़ गये। उन्होंने मुझे एक निकट की पर्णशाला में चलने को कहा। मैंने उठने की चेष्टा की परन्तु पैरों में शक्ति न थी। जैसे-तैसे हम दोनों उस कुटिया में गये। वहाँ थोड़ी सी भोजन सामग्री रखी थी। पृथ्वी पर कुछ बिछा था। जलपान के लिये एक मृतभाण्ड रखा था। यहीं उन्होंने मेरे लिये निवास का प्रबन्ध किया। भोजनों को अपने हाथ से पकाने की व्यवस्था की। अनभ्यस्त होने के कारण मैंने अपनी एक उँगली बुरी प्रकार जला ली। अवधूत ने उसे तुरन्त ही ठीक करने की चेष्टा की। साथ ही साथ यह भी कहने लगा कि पापों का प्रायश्चित अच्छा हुआ।

गुरुवर की आज्ञानुसार मैं इसी स्थान पर रह कर नगर में अपने कटु अनुभवों का लोगों को दिग्दर्शन कराने के लिये जाया करता था। मैं बहुत वर्षों से इसी कुटिया में रहता था। केवल सम्भाषण द्वारा अथवा लेखों द्वारा कभी-कभी अपने अनुभवों को व्यक्त कर दिया करता था। वे अवधूत जी भी मेरी कुटी को दूसरे-तीसरे दिन पावन

बना जाते थे। उन्होंने मुझसे सर्वदा मिलते रहने का आदेश दिया था। परन्तु मुझे इधर थोड़े दिनों से ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में अब मुझे कोई नया अनुभव नहीं करना है। मैं अपने सब अनुभव लोगों को सुना चुका हूँ। मेरे अवधूत गुरू ने भी मुझसे सर्वदा के लिये चार दिन हुये विदा माँग [illegible] थी। मैं भी शीघ्र ही इस संसार से सर्वदा के लिये विदा लेने वाला हूँ। पथिक का पथिकत्व वास्तव में तभी समाप्त होगा। अन्त में भगवान से केवल यही प्रार्थना है कि मेरे अनुभवों से लोग लाभ उठावें। इसी से मेरी आत्मा को सान्त्वना मिलेगी।

———